CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

यज्ञतत्व

[हवन-विधि सहित]

बृहत संस्करण

'पूजातत्त्व' के लेखक
की
एक और कृति

महामहोपाध्याय
डा० गोपीनाथ कविराज डी० लिट०
की
प्रस्तावना सहित

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

यज्ञतत्त्व

हवन विधि सहित

बृहत संस्करण

मूल ग्रन्थ का सम्पूर्ण अनुवाद

यज्ञेषु देवाः तिष्ठन्ति यज्ञे सर्वं प्रतिष्ठितम् ।
यज्ञेन ध्रियते पृथ्वी यज्ञः तारयति प्रजाः ॥
अन्नेन भूता जीवन्ति पर्जन्यादन्नसम्भवः ।
पर्जन्यो जायते यज्ञात् सर्वं यज्ञमयं ततः ॥

'पूजातत्त्व' के लेखक

श्रीमत् स्वामी प्रेमानन्द तीर्थ

प्रणीत

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

प्रकाशक :

ओंकार नाथ मुट्टू

'शंकर सदन'

५२/४६ लक्ष्मी कुण्ड

वाराणसी–221010

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

सर्वाधिकार सुरक्षित

द्वितीय संकरण

जनवरी १९८४

मूल्य: ८.००

मुद्रक :

खण्डवाल प्रेस, ऐण्ड पब्लिकेशन्स

मानमन्दिर,

वाराणसी–२२१००१

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

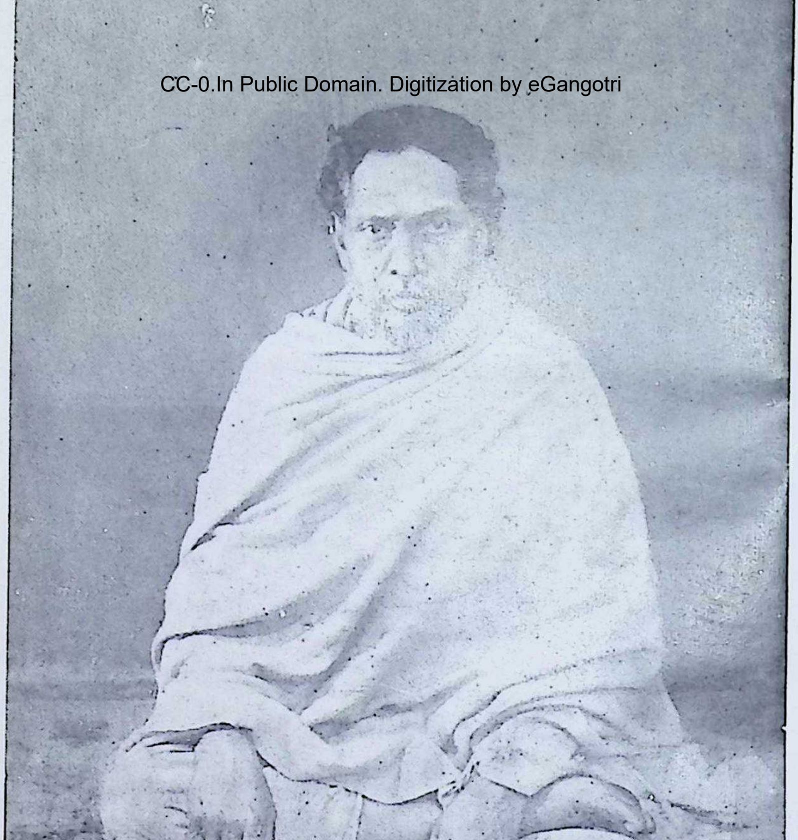

आगमन] श्रीमत् स्वामी प्रेमानन्द तीर्थ [प्रत्यागमन

२६ नवम्बर, १८७१ — २ मई १९५९

कार्तिक पूर्णिमा — वैशाख कृष्णा दशमी

'They were astonished and said "Whence hath this man, this wisdom and these mighty works".'

—ST. MATHEWS

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

समर्पण

जो इस ग्रन्थके मूल रचियता हैं एवं जिनकी प्रेरणासे यह हिन्दी अनुवाद हुआ है उन्हीं परमाराध्य श्रीमत स्वामी प्रेमानन्द तीर्थके चरणारविन्दमें यह पुस्तक समर्पण करता हूँ।

हमारी आन्तरिक प्रार्थना है कि इस ग्रन्थ से प्रकृत लोक कल्याण हो।

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

[श्रद्धेय श्रीमत् स्वामी प्रत्यगात्मानन्दजीने 'यज्ञतत्त्व'के सम्बन्धमें अपना अभिमत निम्नलिखित श्लोक द्वारा प्रकट किया। उनके आश्रममें यह यज्ञ अनेक बार अनुष्ठित हुआ]

प्रेमानन्दसमुद्रवारि विमलं प्रज्ञानसूर्योज्वलं
वेदीरूपमृतक्रियाश्च समिधः पीयूषवाण्याहुतिः।
तद् प्रज्ञात् समुदेति विश्वकुशलः पर्जन्य आनन्दवृण्
मैत्र्यन्नं सकलेषु हार्दि नितरां यस्मात् प्रज्ञा निर्जराः॥
(मैत्राख्यान्नमुदारहार्दि)*

(* एक पत्रमें उन्होंने यह पाठान्तर लिखा था)

(अर्थ—प्रज्ञानरूप सूर्यतेज द्वारा समुद्दीपित जो सुविमल प्रेमानन्दसमुद्रजल है वह वेदीरूप हो; सत्यके पथमें प्रवर्तित 'योगक्षेमाय' जो क्रिया की गई वह समिधरूप हो; साक्षात आगम अथवा आत्मप्रत्ययकी जो अमृतवाणी है वह आहुतिरूप हो; इस प्रकार संयोजित जो यज्ञ किया गया उससे विश्व कुशल आनन्द वर्षण करनेवाले मेघ उत्पन्न होंगे ('यज्ञात् भवति पर्जन्यः':—गीता ३।१४); इस मेघके वर्षणसे जो अन्न पैदा होगा वह होगा सब जीवोंमें हार्दिक मैत्री भाव; और उस अन्नसे जो प्रजा जन्मेगी वह क्लेशयुक्त जरा-मरणशील प्रजा नहीं होगी—वह होगी 'अमृतस्य पुत्राः'—अमर और निर्जर। ॐ शान्तिः॥)

'आश्रम', P. O. Garia
Dt, 24–Parganas
19. 4. 65 सोमवार

स्वा० स्वामी प्रत्यगात्मानन्द

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

अनुवादक का निवेदन

जिनका परमाराध्य स्वामीजीसे घनिष्ठ परिचय था वे जानते हैं कि स्वामीजी बाल्यावस्थासे ही साधनभजनमें निविष्ट रहते थे। बालब्रह्मचारी, कालेज शिक्षा प्राप्त करके युवावस्थामें ही संन्यास लेकर उन्होंने अपनी जीवन-व्यापी साधना तथा कठोर तपस्या द्वारा उपलब्ध अनुभूतियों एवं सुचिन्तित धारणाओंको आधुनिक समयके असाम्प्रदायिक भावधारासे चलनेवाले धर्म-पिपासुओंके लिए एक अनाडम्बर कालोपयोगी साधन-प्रणालीके रूपमें प्रचार किया। इस सम्बन्धमें उन्होंने 'पूजा' और 'यज्ञ' नामक दो ग्रन्थ लिखे। 'पूजा' नामक मूल ग्रन्थ एवं उसका हिन्दी रूपान्तर 'पूजातत्त्व' स्वामीजीकी देहावस्थामें महामहोपाध्याय डा० गोपीनाथ कविराज एम० ए०, डी० लिट० की सुयोग्य सम्पादनामें प्रकाशित किये गये थे। दोनों मूल ग्रन्थ बँगला भाषामें हैं। 'यज्ञ' नामक ग्रन्थ स्वामीजीके तिरोधानके बाद सन् १९६५ में प्रकाशित हुआ। उस समय नाना कारणोंसे इस ग्रन्थका सम्पूर्ण हिन्दी अनुवाद करनेकी व्यवस्था न हो सकी। लेकिन हिन्दी भाषी भक्तोंके बार-बार अनुरोध करनेपर एक संक्षिप्त हिन्दी रूपान्तर छपवा दिया गया था। इससे लोगोंकी तृप्ति नहीं हुई और ग्रन्थका सम्पूर्ण हिन्दी अनुवाद छपवानेका आग्रह बना रहा। आज जिनकी पुस्तक है उन्हींकी कृपारूपा प्रेरणा एवं अप्रत्यक्ष सहायतासे यह सम्पूर्ण हिन्दी रूपान्तर प्रकाशित हो रहा है।

प्रायः दश वर्षकी अवधिमें लिखित विविध लेखों और पत्रोंमेंसे संकलित किये जानेके कारण, मूलग्रन्थमें पुनरुक्तियाँ बहुत थीं। इनमेंसे कुछ तो मैंने निकाल दी लेकिन लेखकका भाव अक्षुण रखनेके उद्देश्यसे कुछ पुनिरुक्तियोंको रखना आवश्यक मालूम हुआ। जैसा कि विद्वान-साधक पण्डित गोपीनाथ कविराज लिखते हैं—"स्वामीजीकी ऋषि-दृष्टि थी"। पुस्तकमें जिन तत्त्वोंकी व्याख्या की गयी है वह स्वामीजीकी साधनोपलब्ध अनुभूतियों का सार हैं।

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

प्रत्येक मन्त्रका भाव ध्यान-धारणा द्वारा उपलब्ध करनेके बाद पुस्तकमें रखा गया। स्वामीजी लिखते हैं कि "उनकी पूजा-प्रणाली एवं यज्ञ-विधि कोई नई चीज नहीं हैं। यह प्राचीन आर्य हिन्दुओंकी सत्यपूर्ण भावधाराका अनुसरण करके रची गई है, केवल प्राचीन धाराको यथासम्भव वर्तमान समयके उपयोगी बना दिया गया है (Old wine in new bottles)"

स्वामीजीके स्वभावमें ऐसी विनय थी कि वे साधना द्वारा जो अनुभूति लाभ करते थे, उस उपलब्ध सत्यको ऋषि-वाक्यरूपमें या शास्त्र-व्याख्या रूपमें समझाते और प्रचार करते थे। इस सम्बन्धमें उन्होंने अपने पत्रोंमें लिखा है—"ऐसा करनेमें मेरे दो महत् उद्देश्य रहते हैं—(१) महत्‌को गौरव दान करना, (२) अहंकारके हाथसे अव्याहति लाभ करना। साधन पथमें अहंकार जीवका सबसे बड़ा शत्रु है। एकबार ऊपर उठ जाय तो सब साधन भजन नष्ट हो जायगा। इस असुरने बड़े-बड़े साधकोंको पछाड़ गिराया है"।

स्वामीजीने अपने जीवनकालमें अपना नाम या चित्र किसी पुस्तक, पत्र या पत्रिकामें नहीं छपने दिया। लेकिन उनकी पुस्तकों (पूजातत्त्व एवं यज्ञ-तत्त्व) से प्रभावित होकर ग्राहकोंकी लेखकके बारेमें जाननेकी जिज्ञासा रहती थी। कुछ लोगोंने उनकी तसवीरें माँगी, कुछने दर्शनार्थ आनेकी अनुमति चाही और कई एक तो बिना कहे चले ही आए। इसलिए इस संस्करणमें उनका नाम एवं चित्र दे दिया है। स्वामीजीके देहावसानके बाद "श्रीमत स्वमी प्रेमानन्द तीर्थकी जीवनी एवं पत्रावली" नामक एक पुस्तक प्रकाशित कीगई जो अभी उपलब्ध है।

५२।४६ लक्ष्मीकुण्ड
वाराणसी–221010

ओंकारनाथ मुट्टू

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

विषय-सूची

विषय	पृष्ठांक
१. प्रस्तावना	१
२. प्रकाशक का वक्तव्य	३
३. संकलयिता का निवेदन	५
४. यज्ञतत्त्व	११
५. मङ्गलाचरण	१२
६. यज्ञ—भगवत साधना	१३
७. व्यष्टि-समष्टि तत्त्व	१६
८. शब्द रहस्य	२०
९. वेद	२२
१०. ऋषि-छन्द-देवता-विनियोग	२८
११. मन्त्र-तन्त्र-यन्त्र रहस्य	३६
१२. यज्ञ का तात्पर्य	३९
१३. यज्ञ क्या है	४२
१४. यज्ञ का प्रयोजन	५२
१५. यज्ञ के प्रकार और अधिकारी विचार	५४
१६. द्रव्यात्मक, भावनात्मक, केवलात्मक यज्ञ	५८
१७. पंच महायज्ञ	७०
१८. पुरुषमेध और नरमेध यज्ञ	७३

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri
१९. वेदान्त में यज्ञ ७७
२०. गीता में यज्ञ ७९
२१. तन्त्र (शैव) मत में यज्ञ ८४
२२. वर्तमान कालोपयोगी यज्ञ ८८
२३. यज्ञके अनुष्ठाता—ऋत्विक और अध्वर्यु ९०
२४. अग्नितत्त्व ९१
२५. हवनीय द्रव्य ९५
२६. निष्क्रय तत्त्व ९७
२७. यज्ञ का पशु १००
२८. आहुति तत्त्व १०१
२९. पूर्णाहुति १०२
३०. इड़ा, सोम एवं हविःशेष-भक्षण १०५
३१. हवनके लिए आवश्यक वस्तुएँ ११०
३२. हवन-विधि १११-१६४
३३. परिशिष्ट १६५-१६८

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

प्रस्तावना

यह ग्रन्थ जिनकी लेखनीसे निकला है, उन्हें बहुत लोग नहीं जानते थे। कारण, वे गुप्त रहते थे और गुप्त रहना पसन्द करते थे। तथापि वे गुप्त नहीं रह पाते थे, क्योंकि जो एक बार उनके संस्पर्शमें आ जाता था, वह फिर उन्हें भूल नहीं सकता था। वे उसके आदर्श-स्वरूप हो जाते थे।

उनके उपदेश भक्तोंको लिखित पत्रावलीमें निबद्ध हैं। इसके अलावा साधारण लोगोंके उपयोगके लिए 'पूजा' नामक एक ग्रन्थ उन्होंने प्रकाशित किया, जिसमें उपासनातत्त्वका सरल भाषामें विवेचन है। उपासनाकी दूसरी दिशा यज्ञके सम्बन्ध में उन्होंने 'यज्ञ' नामक ग्रन्थ लिखा, किन्तु दुःखका विषय है कि इस ग्रन्थका प्रकाशन उनके जीवनकालमें न हो सका। स्वामीजीके तिरोधानके बाद उनके भक्तोंने इस ग्रन्थको प्रकाशित किया और उन्हीं लोगोंके विशेष अनुरोध पर, मैं दो-एक बातें लिखनेको उद्यत हुआ हूँ।

लेकिन, क्या लिखूँ? स्वामीजीने अपनी आन्तरिक अनुभूतिको अकुण्ठित रूपसे व्यक्त किया। **उन्होंने जिस दृष्टिसे यज्ञको देखा, वह मूलतः ऋषि-दृष्टि है।** यह दृष्टि सरल होते हुए भी महत फलदायक है। इससे व्यक्ति और समाजके एवं विश्व और विश्वातीतके सब विरोधोंका समन्वय हो जाता है और जगतकी जितनी समस्याएँ हैं—परिवार एवं देशकी, बाह्य जगत एवं भाव जगतकी—सब सुन्दर रूपसे मीमांसित हो जाती हैं।

सब कर्म ही यज्ञ हैं—यहाँ तक कि हमारा खान-पान भी प्राणाग्निमें यज्ञ है। सभी यज्ञ है, सभी पूजा है, आत्मा ही परमात्मा है, परमात्मा ही आत्मा है। इसलिए जिससे आत्माका सन्तर्पण हो, वही परमात्माका तृप्तिसाधक है और जिससे उनकी तृप्ति हो, वही आत्माकी तृप्तिका उपकरण है। दोनोंमें जो विरोध प्रतीत होता है, वह अविद्यामूलक है। जैसे, अपने उपभोगके लिए कुछ ग्रहण करना

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

बन्धनका कारण है, लेकिन उसे स्वयं ग्रहण न करके यदि भगवानको अर्पण कर दिया जाय तो वह भोग-पदार्थ उनकी दृष्टिसे पवित्र होकर, उनके द्वारा ग्रहण होकर, प्रसाद रूपमें हमारे पास आये, तब उससे बन्धन तो होता ही नहीं, वरन् वह मुक्तिका कारण हो जाता है। यही कर्मका कौशल है।

स्वामीजीका भाव यह था कि हर मनुष्यका जीवन ऐसा होना चाहिए कि उसके सब कर्म यज्ञमें परिवर्तित हो जायँ। इस प्रकारके यज्ञमय जीवनमें परम लक्ष्य स्वतः फूट निकलता है। इसके फलस्वरूप ज्ञान, भक्ति, सेवा, विश्वकल्याण स्वभावतः उदित होते हैं। तब मानव जीवन धन्य हो जाता है।

आशा करता हूँ, इस पुस्तकका अध्ययन कर साधकगण तृप्ति लाभ करेंगे।

२ ए, सिगरा **श्रीगोपीनाथ कविराज**

वाराणसी

७–५–६५

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

प्रकाशकका वक्तव्य

(मूल वंगलासे अनूदित)

जिनका परमाराध्य स्वामीजी महाराजसे घनिष्ठ परिचय था, वे जानते हैं कि वे वाल्यावस्थासे ही साधन भजनमें निविष्ट रहते थे। बाल ब्रह्मचारी, युवावस्थामें ही संन्यास लेकर उन्होंने अपनी कठोर तपोलब्ध अनुभूतियों एवं सुचिन्तित धारणाओंके आधार पर अपने अनुगत भक्तोंके उपकारार्थ एक अनाडम्बर, समयोपयोगी, सुसाध्य अभिनव साधन-प्रणालीका प्रचार किया और इस सम्बन्धमें उन्होंने 'पूजा' और 'यज्ञ' नामक दो ग्रन्थोंकी रचना की। इनमें 'पूज़ा' नामक ग्रन्थ तो स्वामीजीकी देहावस्थामें महामहोपाध्याय डा० गोपीनाथ कविराज महाशयके कर्तृत्वाधीन प्रकाशित हुआ था। सम्प्रति 'यज्ञ' नामक ग्रन्थ प्रकाशित हुआ है।

विभिन्न शास्त्रोंका अध्ययन करके एवं साधना द्वारा तत्त्वोपलब्धि करके स्वामीजीने यज्ञके सम्बन्धमें जो विस्तृत व्याख्या और 'नोट्स' संकलित किये थे, वे यथायथ प्रस्तुत ग्रन्थमें प्रकाशित किये गये हैं। इनमें कोई परिवर्तन या परिमार्जन नहीं किया गया। यज्ञके शास्त्रानुमोदित मूलभावको ठीक रख, अभिनव पद्धतिसे यज्ञका अनुष्ठान (होम क्रिया) स्वामीजी अपने भक्तोंसे कराते थे। उस समय हवनके मंत्र और उसकी अनुष्ठान विधि भक्तलोग हाथसे लिखकर अपने-अपने पास रखते थे। स्वामीजी के तिरोधानके बाद यज्ञके मंत्र, हवन-विधि सहित, पुस्तकाकारमें छपवाये गये।

आचार्य, गुरु और शास्त्रमुखसे ज्ञात होता है कि पूजा और यज्ञ आदर्श मानव जीवन प्राप्त करनेके मुख्य उपाय हैं। पूज्यपाद स्वामीजी जिस प्रकार इन दोनों तत्त्वोंका स्वरूप निर्देश कर गये हैं, उसे समझकर एवं तदनुसार अपने जीवनको नियन्त्रित कर, आदर्श मानुष जीवन प्राप्त किया जा सकता है। यह जो

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri
विराट विश्वचक्र निरन्तर घूम रहा है, इसमें यज्ञका आदर्श प्रतिष्ठित है। एक दूसरेकी सेवा ही यज्ञ है। व्यष्टि अपनी योग्यतानुसार समष्टिकी सेवा करे और समष्टि अपनी सम्पदसे व्यष्टिका अभाव पूर्ण करे। दास प्रभुको प्रणाम कर आत्म-निवेदन करे और प्रभु दासको आशीर्वाद कर अपने आपको उसे दे देंगे। यही ब्रह्मचक्र है। अपने सुख-स्वार्थकी चिन्ता न करके दूसरेके हितार्थ जो चिन्ता की जाती है, उससे प्रकृतिके भण्डारसे जो प्रतिदान आता है, उससे केवल अपना अभाव ही पूर्ण नहीं होता, वरन मनुष्यका स्वभावान्तर हो जाता है।

यज्ञका प्राण है—आत्मवस्तुको अनात्म वस्तुसे पृथक् करना। अनात्म वस्तुकी आहुति देकर आत्मवस्तुका शोधन करना, यज्ञकी क्रियाका प्रतीक है। हिन्दुओं और पारसियोंके पूर्व-पुरुषोंके यज्ञका उद्देश्य था, अनात्म वस्तुकी मलिनताको—सोनेके खोटको जलाकर भस्म कर देना और उसे शुद्ध आत्मारूपमें परिणत करना। अब लोग यज्ञका मूल उद्देश्य भूल गये हैं। इस मूल उद्देश्यकी ओर लोगोंकी दृष्टि आकर्षित करनेके लिए ही स्वामीजीने यज्ञकी प्रथाका पुनः प्रवर्तन करनेकी चेष्टा की। उन्होंने अन्यत्र लिखा है—"पहले व्यष्टि तत्त्वकी समष्टि तत्त्वमें आहुति देकर एक विशिष्टाद्वैत भाव स्थापित करना होगा। फिर विशिष्टाद्वैत भावोंको एक अखण्ड अद्वय तत्त्वमें आहुति देकर 'एकमेवाद्वितीयम्' तत्त्व आस्वाद करना ही हवनका लक्ष्य है।"

पूजा और हवन साधनाके आवश्यक अंग हैं। स्वामीजीने इन दोनों अंगोंको नये तरीकेसे ढाल कर एक 'सुसुखं कर्तुमव्ययम्' रूप दिया है—Old wine in new bottles.

इस पुस्तकके 'कालोपयोगी यज्ञ'—शीर्षक निबन्धमें स्वामीजीने लिखा है—"इस यज्ञ-विधि और उसके तात्पर्यमें यज्ञकी उपकारिताका सामान्य आभास दिया गया है। समय, शक्ति और योग्यताके अभावसे इसमें त्रुटियाँ रह गयी हैं। आशा करता हूँ, कृपालु पाठकगण इसे शुद्ध करके एक सुन्दर रूप देनेकी चेष्टा करेंगे।"

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

संकलयिताका निवेदन

(मूल बंगलासे अनूदित)

पूज्यपाद स्वामीजी महाराज अपने गुरुके आदेशसे यज्ञके सम्बन्धमें अपनी अनुभूतियाँ लिखनेको बाध्य हुए। यह विषय उनके गुरुने जिस प्रकार उन्हें समझाया था, यहाँ उसीका आभास देनेकी चेष्टा की गयी है। स्वामीजी लिखते हैं—"इसमें यदि कुछ उपादेय है, तो वह मेरे गुरुदेवका है और जो भूल-चूक त्रुटिया हैं, वह मेरी हैं। मेरे ऐसे शास्त्रज्ञान-विहीन अनधिकारीके लिए यह दोष मार्जनीय है। मैंने केवल अपने गुरुका आदेश पालन करनेके लिए यह ग्रन्थ लिखनेकी चेष्टा की, कोई प्रतिष्ठा-लाभ करनेके लिए नहीं। कारण, प्रतिष्ठा-लाभ करनेके लिए भी जो योग्यता चाहिए, मेरे बन्धुगण जानते हैं, मुझमें वह भी नहीं है।"

बहुत लोग पूछते थे कि स्वामीजी संन्यासी होकर यज्ञमें क्यों अपना दिमाग खपाते हैं। वे लिखते हैं—"मेरा उत्तर सहज है। मैंने पिताके आदेशसे संन्यास लिया। वे जिस प्रकारका संन्यासी मुझे देखना चाहते थे, मैं उसी प्रकार जीवन चलानेकी चेष्टा करता हूँ। मेरा मत है कि अनासक्त फलाकांक्षा-रहित होकर, जीवका कल्याण करना, भगवानकी इच्छा पूर्ण करना (गीताका संन्यास) 'संन्यास' शब्दका अर्थ है। मैंने संन्यास किया है, अन्ततः करनेकी इच्छा करता हूँ, कामना-वासना-आसक्तिका, तृष्णारूप संसारका, जीवसृष्ट जगतका—भगवत-सृष्ट जगतका या भगवत-विधानका संन्यास नहीं। मेरे भगवान भी कर्म करते हैं—किन्तु 'आनन्दप्राचुर्यात न तु अभावात्'। वह कर्म स्वभावसे होता है, अभावकी ताड़नासे नहीं। "न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन। नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि"।—गीता ३।२२. भगवानका कर्मरहस्य जिनके अनुभवमें आता है, वे भी कर्मके बन्धनमें नहीं फँसते।—गीता ४।१४. गीताके साधक, भक्त, ज्ञानी, श्रेष्ठ महात्मागण भगवदनुमोदित कर्ममें जीवनार्पण कर

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

गये हैं। मैं उन्हींका अनुसरण कर कर्म करना चाहता हूँ। भगवान शंकराचार्यने जिस कर्म-संन्यासका उल्लेख किया है, वह सकाम कर्मका न्यास है। उनके मतानुसार भी चित्त शुद्धिके अनुकूल, भगवत–प्राप्तिमें सहायक, कर्म निन्दनीय नहीं हैं। सत् + चित् + आनन्द कर्म नहीं करते, यह मेरी धारणामें नहीं आता। वेदान्त दर्शनमें भी ब्रह्मसे जगतकी सृष्टि-स्थिति-लय बतायी गयी है। "सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते"—ज्ञान प्राप्त हो जानेपर कर्म पूर्णता प्राप्त करता है। "तस्य कार्यं न विद्यते'—प्रकृत संन्यासीके लिए अपना कार्य कहकर कुछ नहीं रह जाता। अर्थात् भगवदिच्छा पूर्ण करनेमें, भगवत-कार्य करनेमें उसका जीवन न्यस्त होता है। भगवान् जैसे समस्त कर्मोंमें रहते हुए भी कर्मके कर्ता नहीं हैं, मैं समझता हूँ आदर्श संन्यासी भी उसी प्रकार जीवहितार्थ सब कर्मोंमें रहते हुए भी, स्वयं अकर्त्तारूपमें अवस्थित रहकर, कर्मफलसे लिप्त नहीं होता। वह भगवानसे युक्त रहता है और भगवदिच्छानुसार कर्म उसके माध्यमसे सुसम्पन्न हो जाता है। संन्यास माने भगवतकार्यका, भगवद्-विधानका न्यास नहीं—यह तो असम्भव है, शंकराचार्यजी भी स्वीकार कर गये हैं। भगवान शंकराचार्य, भगवान चैतन्यदेव, भगवान ईसा, भगवान बुद्धने जिस प्रकार कर्म कर, जीवके कल्याणके लिए जीवन उत्सर्ग किया, वह तो हमारी धारणाके अतीत है। कर्मकाण्डीय हिंसात्मक स्वार्थजनित कर्मरूप यज्ञ ही संन्यासीके लिए निषिद्ध है। मैं निष्काम भगवदिच्छा पूर्ण करनेके लिए, जीवनके हितमें सहायक यज्ञ, अपने लिए करणीय मानता हूँ। मेरे गुरुदेवका आदेश भी यही था। आप लोगोंको विचार करना चाहिए कि मैं जिस यज्ञका अनुमोदन करता हूँ, वह संन्यासके अनुकूल है या प्रतिकूल। जिस कार्यके लिए मैं आदिष्ट हूँ, जिस कार्यको मैं शास्त्र-गुरु-विवेक द्वारा अनुमोदित मानता हूँ, उसे करनेके लिए अपने बन्धुओंसे अनुरोध करना मुझे अपना प्रधान कर्तव्य मालूम होता है।

"मेरा आन्तरिक विश्वास है कि बन्धु-बान्धवादि प्रियजनोंको भगवत-विग्रहमें परिणत किया जा सकता है। सब कामोंको यज्ञमें परिवर्तित किया जा सकता है। समस्त 'इदं' पदार्थ पूर्ण 'अहं' के परिणाम या विवर्तन हैं। जीव-

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

जगत ब्रह्मके अतिरिक्त और कुछ नहीं है। ऋषियोंके जीवनका सारतत्त्व था सर्वत्र ब्रह्मोपलब्धि। उनके समस्त ज्ञान-कर्म-भक्ति काण्डका उद्देश्य था कि किस प्रकार सब कर्मोंको यज्ञमें भगवदाराधनामें परिणत किया जाय। मैं सम्पूर्णतः विश्वास करता हूँ कि निष्काम कर्म, भगवदाराधना, यज्ञका नामान्तर मात्र हैं। यज्ञकी आगन्तुक मलिनताको दूर कर उसे प्रकृत स्वरूपमें प्रतिष्ठित करना ऋषियोंका प्रधान कार्य था। यह तत्त्व अन्तरमें अनुभव कर, यज्ञके प्रकृत स्वरूपकी उपलब्धि कर, सब कर्मोंको कैसे यज्ञमें परिवर्तित किया जाय, अपने वन्धुओंको समझा देना मुझे अपना प्रधान कर्तव्य मालूम होता है। मैं सम्पूर्णतः विश्वास करता हूँ कि किसी भी ज्ञानकी पूर्णता-प्राप्त अवस्थाका नाम है 'ब्रह्मज्ञान'। किसी भी कर्मकी पूर्णता-प्राप्त अवस्थाका नाम है 'भगवत-प्राप्ति'। किसी भी प्रेमकी पूर्ण पवित्रता-प्राप्त अवस्थाका नाम है 'भगवत-प्रेम'। Any Knowledge raised to power infinity is the Knowledge of God. Any love raised to power infinity is the love of God. Any activity done in the perfect way is real 'Gyan' or 'Para Sadhana'.

"निरन्तर साधन करते-करते मनुष्यका चित्त इस प्रकार शुद्ध हो जाता है कि फिर उसमें कामना-वासना-आसक्ति-निजसुख-स्पृहा, प्रतिष्ठाका मोह, आदि दोष नहीं रह जाते। तब वह भगवानके हाथका यंत्र हो जाता है। जिस ताल-सुरमें भगवान उसे बजाते हैं, उसी ताल-सुरमें वह बजने लगता है। तब उसका अपना कार्य कहकर कुछ नहीं रह जाता। उसका कार्य शिवका कार्य हो जाता है। यह शिवके कार्यको ही मैं प्रकृत यज्ञ मानता हूँ। तब भगवानके साथ पूर्ण योग हो जानेके कारण उसके नेत्रोंमें दूरदर्शन, सूक्ष्म-दर्शन, दिव्य-दर्शनकी शक्ति आ जाती हैं। इसी प्रकार वह दूरश्रवण, सूक्ष्मश्रवण, दिव्यश्रवण, आदि लाभ करता है। तब उसकी समस्त वृत्तियाँ पूर्णताको प्राप्त एवं सामंजस्य युक्त हो जानेके कारण उसका देखना, सुनना, चिन्तन, विचार–सब पूजा या यज्ञमें परिणत हो जाते हैं। इसीलिए भगवान् शंकराचार्यने कहा है—"पूजा ते विषयोपभोग रचना'। यही हो जाता है प्रकृत यज्ञ। ऋषियोंके प्राचीन यज्ञमें मैं इस प्रकारकी एक पूर्ण मूर्ति देखता हूँ। उसकी आगन्तुक विकृति दूर कर

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

विचार करनेसे यज्ञमें (विशेषतः भावनात्मक यज्ञमें) इस भावका एक सुन्दर परिचय मिलता है। मुझे प्रतीत होता है कि भगवान स्वयं, देवगण, ग्रह-उपग्रह, चन्द्र-सूर्य, तारागण, वृक्ष-लता इत्यादि सब अहर्निश अपने-अपने यज्ञमें व्यस्त हैं। हमारे श्वास-प्रश्वास, रक्तकी गति, भावना-चिन्ता, देखने-सुननेमें भी वैदिक यज्ञका आभास मिलता है। जब शिवका कर्म ही यज्ञ है और जब जीवके कर्मको शिवके कर्ममें पर्यवसित करना ही जीवका प्रधान लक्ष्य है, तब यज्ञके माहात्म्यको वर्णन करना मेरे लिए बिलकुल स्वाभाविक है। उपयुक्त ज्ञानके अभावसे अथवा साधनकी कमीसे हो सकता है कि मैं अपने मनोभावको ठीकसे व्यक्त न कर सकूँ, लेकिन मेरे बन्धुगण अगर मेरा लक्ष्य जानकर प्रकृत यज्ञतत्व समझनेकी चेष्टा करें तो मैं अपने कार्यको सफल मानूँगा। मैं प्रत्येक जीवको, प्रत्येक पदार्थको यज्ञका एक-एक सजीव विग्रह—जीवन्त यज्ञशाला माननेको बाध्य हुआ हूँ।

"संसारको वृन्दावनधाममें, प्रियजनोंको भगवत्-विग्रहमें, परिणत किया जा सकता है। स्वयं शुद्ध होकर और सबको शुद्ध करके यह उद्देश्य सफल किया जा सकता है। समझना होगा कि हमारे सब प्रियजन वास्तवमें भगवानकी परिणति या विवर्तन हैं। ध्यानमें रखना होगा कि विवर्तनका कारण अनेकांश द्रष्टाके भीतर है। संसारके प्रेमको धीरे-धीरे शुद्ध कर भगवत-प्रेममें परिवर्तित किया जा सकता है। यह परिवर्तन करना ही जीवनका लक्ष्य है। तब हमारी प्रीति हो जायगी भगवत्-प्रेम, हमारा देखना हो जायगा भगवद्दर्शन, चिन्तन हो जायगा भगवत्-ध्यान, कर्म हो जायगा भगवानकी पूजा, संसार हो जायगा भगवद्-धाम, प्रियजन हो जायँगे भगवद्-विग्रह। अपने भीतर एवं अपने बन्धुओंके भीतर यह भाव बद्धमूल कर देना मेरी प्रधान साधना है। मेरा विश्वास है कि ऋषियोंका आविष्कृत आर्यधर्म यही था। इसमें नवीन मेरा कुछ नहीं है। इसी आदर्शानुसार अष्टावक्र मुनिने जनकको, श्रीकृष्णने अर्जुनको तैयार करनेकी चेष्टा की थी। मैं इसीको आर्य सभ्यताका बीज—मन्त्र कहता हूँ। साधनाके प्रभावसे माँ-बाप हो जायंगे अन्नपूर्णा-विश्वनाथ, पुत्र-पुत्री बाल-गोपाल-कुमारी भगवती, पति—राम, कृष्ण, शिव, पत्नी—सीता, राधा, दुर्गा,

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

जीव वेश धारण किया हुआ शिव, 'यत्र नारी तत्र गौरी', 'यत्र जीव तत्र शिव'। कौन हमारी आँखोंसे देख रहा है, कानोंसे सुन रहा है, मनसे चिन्तन कर रहा है, इन्द्रियोंसे काम कर रहा है, चित्तसे आनन्द ले रहा है, इत्यादि—स्वरूप-प्रतिष्ठ होकर, प्रकृत द्रष्टा होकर—इस तत्त्वकी उपलब्धि करना ही भावनात्मक यज्ञका अंग है।"

स्त्री-पुत्रादि, विषय-सम्पत्ति, संसार नहीं हैं—यह तत्व समझाने के लिए लिए स्वामीजी प्रायः ही कहते थे, "वासना एव संसारः, तन्नाशः मोक्ष उच्यते", 'यत्र यत्र भवेत् तृष्णा संसारः विद्धितत्तदा'। राजर्षि जनकके आदर्शानुसार 'अनासक्त-अनुरागी, संसारी-संसारत्यागी' होनेकी चेष्टा करनेका उपदेश देते थे।

यज्ञ-तत्वके सम्बन्धमें स्वामीजीने साधन द्वारा अनेक नूतन तत्व अनुभव किये, अनेक शास्त्रीय मत भी संग्रह किये। रामेन्द्र-सुन्दर त्रिवेदीकी 'यज्ञकथा' एवं कोकिलेश्वरके 'उपनिषदके उपदेश' से वे अपने-आपको उपकृत मानते थे। किन्तु दुःखका विषय है कि वह सब लेख-सामग्री यत्नपूर्वक नहीं रखी गयी। इसलिए बहुत-सी बातें और भाव अपूर्ण रह गये। यज्ञके सम्बन्धमें वेदकी श्रुतियाँ भी ठीकसे संग्रह नहीं की जा सकीं। "समय-सुयोग मिलनेपर इस विषयपर फिर लिखेंगे", ऐसा कहते थे। लेकिन उनका स्वास्थ्य निरन्तर खराब होता गया और वे इस कामको जैसा चाहते थे, वैसा नहीं कर सके। उनके श्रीमुखसे जो कुछ हमने सुना, उसीका आभास इस ग्रन्थमें दिया गया है। यह ग्रन्थ कोई साम्प्रदायिक भाव अथवा कोई निर्दिष्ट पथ ग्रहण करके नहीं लिखा गया है।

बीसवीं शताब्दीके प्रथम भागमें स्वामीजीने लोगोंके मनमें धर्मभाव जगानेकी विशेष चेष्टा की थी। उस समय बहुत लोगोंसे मिलते थे, शास्त्रव्याख्यान सुनते और करते थे, धर्मसभाओंमें भी सम्मिलित होते थे। काशीकी 'बान्धव समिति', 'सेवा समिति', 'युवक समिति', 'पण्डित सभा'में अनेक समय व्यस्त रहते थे। कुछ समय बाद वे यह सब छोड़कर दूर जाकर रहने लगे। तबसे उनके अनुरक्त बन्धुगण उनके मुखसे सुने हुए विषयोंपर प्रश्न उठाकर पत्र लिखने लगे। यज्ञ-तत्वके सम्बन्धमें उनके लेख भक्तोंको लिखित पत्रोंसे संग्रह किये गये हैं।

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri
विभिन्न लोगोंके नाना प्रश्नोंके उत्तरमेंसे संकलन करनेके कारण इसमें पुनरुक्ति अवश्य है, लेकिन स्वामीजीकी साधनोपलब्ध अनुभूतियोंको यथायथ प्रकाशित करनेके उद्देश्यसे हमने कोई काट-छाँट नहीं की। स्वामीजीकी मुखस्थ शक्ति अपूर्व प्रखर थी। जो एकबार पढ़ लेते, कभी भूलते नहीं थे। जहाँ जो भी उपादेय लगता था, उसे 'नोट' करके रखते थे। बोलते, लिखते या लिखवाते समय ठीक वही भाषा अविकल रूपसे उनके मुखसे निकलती थी।

स्वामीजी शास्त्र-गुरु-विवेक द्वारा अनुमोदित पथपर स्वयं चलनेकी चेष्टा करते थे और अपने बन्धुओंको यही उपदेश देते थे। अन्यत्र उन्होंने लिखा है—"शास्त्र ऋषियोंकी अनुभूति है, गुरु असली व्याख्याकार है, अपने जीवनमें साधना द्वारा शास्त्रके तत्त्वोंके अनुभवका नाम 'विवेक' है। इसे जानो, समझो, अनुसरण करो, इसके अनुसार जीवन चलाओ।"

शास्त्रके प्रति स्वामीजीकी विशेष श्रद्धा थी, लेकिन शास्त्रालोचना करनेका अधिक सुयोग उन्हें जीवनमें नहीं मिला। इसलिए साधनोपलब्ध अनुभूतियोंकी ओर ही उनका प्रधान लक्ष्य था। स्वामीजीके स्वभावमें इतनी विनय थी कि वे साधना द्वारा जो अनुभूति लाभ करते थे, उसकी सत्यताकी विद्वान शास्त्रज्ञोंसे परीक्षा करके, उस उपलब्ध सत्यको शास्त्रकी व्याख्या रूपमें, ऋषिवाक्य रूपमें समझाते थे।

स्वामीजी कहते थे कि उन्हें आदर्श गुरुका संधान मिल गया, जो दूर रहते हुए भी स्वप्नादि द्वारा उन्हें चला रहे हैं। इसका विवरण "स्वामी प्रेमानन्द तीर्थकी जीवनी एवं पत्रावली" नामक पुस्तकमें पढ़िये। अपने गुरुके प्रदर्शित पथका अनुवर्तन करना ही उनके जीवनकी प्रधान साधना थी।

(**नोट**—स्वामीजीने कोई शिष्य या आश्रम नहीं किया। अपने पास आनेवाले लोगोंको बन्धु-रूप में ग्रहण करते थे, बन्धु शब्दसे सम्बोधन करते थे)।

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

यज्ञतत्त्व

(परमाराध्य स्वामीजीके ता० १८-८-४४ के एक पत्रमेंसे उद्धृत)

प्रिय—मैं दस वर्षसे प्राचीन वैदिक एवं तांत्रिक यज्ञतत्त्वके अनुसन्धानमें लगा हूँ। यज्ञ ऐसे ऊँचे दरजेकी चीज है, यह पहले कभी स्वप्नमें भी ख्याल नहीं किया था। 'यज्ञतत्त्व' नामक पुस्तक जो लिख रहा था, वह प्रायः शेष हो आयी है। दो-तीन सौ जगह इस यज्ञका अनुष्ठान भी किया गया है। काशीके सर्वश्रेष्ठ पण्डित इस पुस्तकको छपवाना चाहते हैं। इस यज्ञानुष्ठानमें एक रुपयेसे अधिक खर्च नहीं लगता और प्रायः एक घण्टेमें साधित हो जाता है। यह भी तुम्हें दिखाकर तब पुस्तक प्रेसमें देना चाहता हूँ। मुझे इस कामको करनेका स्वप्नमें आदेश मिला था।

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

मंगलाचरण

जो हमारी देह एवं देहके यंत्रोंके रचयिता और चालक हैं, जो हमारी देहमें अधिष्ठित हुए हमारे इन्द्रिय, प्राण, मन, बुद्धि, आदिको चला रहे हैं, उनसे हमारी विनीत प्रार्थना है—'आविरावीर्म एधि'—हे स्वप्रकाश, तुम हमारे सब तत्त्वोंमें अपने स्वरूपको प्रकाशित करो। 'वाङ् मे मनसि प्रतिष्ठिता मनो मे वाचि प्रतिष्ठितम्'—हमारे इन्द्रिय, प्राण, मन, बुद्धिका अवलम्बन कर तुम यज्ञ-कार्य सुसम्पन्न करो। 'पूर्णाभित्वनुदिनं मयि ते शुभेच्छा'—हमारे जीवनमें तुम्हारी इच्छा पूर्ण सफलता लाभ करे अर्थात् हमारा स्वार्थ, प्रतिष्ठा-मोह, अहंकारादि संस्कार तुम्हारी इच्छा पूर्ण करनेमें बाधा न दें।

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

यज्ञ--भगवत साधना

हिन्दू शास्त्रमें भगवान एक बड़ा रहस्यपूर्ण शब्द हैं। भगवानकी दो अवस्थाएँ बतायी गयी हैं–निर्गुण (Unmanifest) और सगुण (Manifest)। निर्गुण वाक्य-मनके अगोचर हैं। इसलिए चिन्ता-धारणा एवं साधनभजनके भी अतीत हैं। किन्तु सगुणका साधन करते-करते निर्गुण भी किसी मात्रामें धारणाके विषयीभूत हो जाते हैं। जीव-जगत सगुण भगवानकी सजीव मूर्ति हैं। वे विश्वरूप हैं—विश्वके अन्तरात्मा हैं। उनका एक और नाम परमात्मा हैं। अर्थात् आत्माकी परम—व्यापकतामें परम एवं गम्भीरतामें परम—सर्वश्रेष्ठ अवस्था। जीवजगत उन्हींकी लीला-स्वीकृत विग्रह, उन्हींकी मूर्ति है। वे विश्वको रचकर, विश्वरूपमें परिणत या विवर्तित होकर, अपने-आपको छिपाकर लीलारस विस्तार कर रहे हैं। इस छिपे हुए चोरको ढूँढ़ निकालनेका एकमात्र उपाय है–उनके सृष्ट जीवोंकी सेवा करना, प्रकृत कल्याण करना। आत्माको, परमात्माको देखना-समझना कठिन है। वे देह द्वारा प्रकाशित हैं। इसलिए देहका अवलम्बन करके ही उनकी धारणा करनी होगी। अतः जीवकी सेवाके माध्यमसे, शिवकी सेवाका अधिकार लाभ करना ही श्रेष्ठ साधना हैं। जैसे अपनी त्रिविध देह (स्थूल, सूक्ष्म, कारण) को शुद्ध और शान्त कर अपने भीतर परमात्माका दर्शन-लाभ करना होगा, उसी प्रकार सब जीवदेहोंको शुद्ध और शान्त कर, सबके माध्यमसे उनका दर्शन, ध्यान और सेवाका अधिकार प्राप्त करना हिन्दुओंकी सर्वश्रेष्ठ साधना है। जो परम, अनन्त और सर्वव्यापी हैं, उन्हें सीमाबद्ध रूपमें प्राप्त करनेसे पूर्णतः प्राप्त करना नहीं हुआ—यह अनुभव करके ही हिन्दूगण सब जीवोंको आत्मौपम्य भावसे देखने और सेवा करनेमें व्यस्त हैं। हिन्दुओंके कोशमें 'पर' शब्द नहीं है। सब अपने हैं। जीवकी सेवा अपनी ही सेवा है—अपने परमात्माकी सेवा है।

भगवान माने ही है—जीवकी पूर्ण परिणत अवस्था। जिसको जान लेने पर और कुछ जानना बाकी नहीं रहता, जिसे प्राप्त कर और कुछ प्राप्त करनेको

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri
बाकी नहीं रहता, जो हो जाने पर और कुछ होना बाकी नहीं रहता। "यद् दृष्ट्वा नापरं दृश्यं यद् भूत्वा न पुनर्भवः। यज् ज्ञात्वा नापरं ज्ञानं तद् ब्रह्मेत्यवधारय ॥" मनुष्यमात्र ही ज्ञात या अज्ञात रूपमें भगवानको जानने—प्राप्त करनेकी चेष्टा कर रहा है। मनुष्य जो कुछ भी प्राप्त करना चाहता है, उसीकी पूर्णताका नाम भगवान है। भगवान सच्चिदानन्द हैं। साधनभजनका उद्देश्य है—सब इन्द्रियोंको पूर्ण विकसित कर ज्ञान, प्रेम और आनन्दसे पूर्णतः विभूषित हो जाना। अर्थात् सत्ता, चैतन्य और आनन्दकी पूर्णता लाभ करना, स्वयं पूर्ण हो जाना। ऐसा कोई मनुष्य नहीं जो जीवित नहीं रहना चाहता, ज्ञान प्राप्त नहीं करना चाहता, आनन्दमें नहीं रहना चाहता। पूर्णता प्राप्त करनेकी चेष्टा ही साधना है।

अन्य प्रकारसे विचार करने पर मालूम होता है कि भगवान सर्वश्रेष्ठ, सर्वशक्तिमान, अनन्त शक्तिके आधाररूपी Power House है। उनके साथ योग रहनेसे हमारी आँख देखती है, कान सुनता है, हाथ-पाँव काम करते हैं, मन विचार करता है, इत्यादि। इस Power House के साथ पूर्णरूपेण योग हो जाय तो हमारी सब इन्द्रियोंमें पूर्ण शक्ति पूर्णरूपेण विकसित हो जायगी। तब चक्षुरादि इन्द्रियाँ दूरदर्शन, सूक्ष्मदर्शन, दिव्यदर्शनकी शक्ति लाभ कर भगवानका दिव्यस्वरूप सर्वतोभावेन प्रत्यक्ष करनेमें समर्थ होंगी। इन्द्रियोंमें दिव्य शक्तिका पूर्ण विकास हुए बिना पूर्णस्वरूप भगवानका पूर्णत्व समझना असम्भव है। ध्यानमें रखना चाहिए कि आदर्श नर अर्जुन भगवत-कृपासे दिव्य चक्षु प्राप्त करके भी भगवानका पूर्णरूप धारण करनेमें समर्थ नहीं हुआ था। साधना, आराधना, उपासना, यज्ञ, आदिका मुख्य उद्देश्य है अपने-आपको सब प्रकारसे पूर्ण बनाकर, पूर्णस्वरूप भगवानको पूर्णरूपेण आस्वाद करना। जीवकी सेवा द्वारा, जीवके माध्यमसे, भगवानको पूर्णरूपेण प्रकाशित कर, जीवको शिवकी सजीव मूर्तिके रूपमें सेवा करनेका उच्च आदर्श जगतमें दुर्लभ है। इस उच्च आदर्शकी उपलब्धि करना ही यज्ञादि साधनका मुख्य उद्देश्य है।

हिन्दुओंके भगवान विश्वरूप हैं। हिन्दुओंकी साधना, पूजा, यज्ञका लक्ष्य है—जीवके माध्यमसे शिवकी सेवा। जीव शिवकी सजीव मूर्ति है। जीवको सेवा

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

सबही कर रहे हैं, लेकिन अज्ञानी-अभक्त करता है अबुद्धिपूर्वक, कष्ट मानकर और ज्ञानी-भक्त करता है जान-समझकर, स्वधर्म मानकर, आनन्दपूर्वक। अज्ञानी जिन कर्मोंको बन्धनका कारण समझता है, ज्ञानीके विचारमें वह मुक्ति, भगवत-प्राप्तिमें सहायक हैं।

भगवत्तत्त्वको 'सत्यं ज्ञानं अनन्तं ब्रह्म' कहा गया है। हम सत्यस्वरूप ज्ञानस्वरूपकी तो कुछ धारणा कर सकते हैं, लेकिन अनन्त और ब्रह्मको समझना मुश्किल है। अनन्त in intensity, ब्रह्म in extensity उपलब्ध करनेके लिए हमें सब पदार्थोंमें, विशेषतः अपने भीतर गहरी डुबकी लगा कर, भीतरका परम सार-तत्त्व आविष्कार करना होगा—यही 'नेति-नेति' साधनाका चरम फल है। डुबकी लगाकर जब हम परम सारतत्त्व, चरम आत्मतत्त्वमें पहुँचेंगे, तब मालूम होगा कि वे सर्वव्यापक हैं—एक प्रकाण्ड महासागर हैं। जीवजगत रूपी तरंगें उनके वक्षःस्थल परसे उठती हैं और गिरती हैं—लीला कर रही हैं। इस भावसे जीवजगतको उनकी विभूति, महिमा अथवा मूर्ति कहा जाता है। साधनाद्वारा जीवजगतको भेदकर, जीव-जगतको शुद्ध और शान्त कर, सबके भीतर ब्रह्मतत्त्वकी उपलब्धि करनी होगी। इसके बाद अपनेको सबके साथ अभेद मानकर, अपनेको सबकी तरह एक सामान्य व्यष्टि, परिणति या विवर्तन जानकर, आत्मौपम्य भावसे सबकी सेवामें जीवन उत्सर्ग करना होगा। हमारे इष्ट पुरुषोत्तम हैं। वे व्यष्टि देहमें रहते हुए भी उनकी देह और सब तत्त्व सर्वोच्च अवस्थाको प्राप्त हैं एवं उनमें पूर्ण सामंजस्य है। वे समष्टि तत्त्वके, ब्रह्मके पूर्ण प्रतीक हैं। समष्टिका ऐश्वर्य, विद्या, ज्ञान, सुख, शान्ति ही उनका ऐश्वर्य, विद्या, बुद्धि, ज्ञान, आनन्द है। वे किसीको अपनेसे पृथक् नहीं समझते। व्यष्टि देहमें रहते हुए भी वे सब कार्यों और भावों-में अपनी समष्टिगत सत्ता अनुभव करते हैं। साधकको यही इष्टमय होजाना होगा।

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

व्यष्टि-समष्टि तत्त्व

'वि' पूर्वक 'अस्' धातुसे व्यष्टि शब्द बनता है। 'अस्' का अर्थ है—क्षेपण करना। जो भावना पृथकत्वकी ओर, बहुकी ओर लेजाय, जो बहुभावापन्न है, उसका नाम 'व्यष्टि' है। और जो भावना समूहकी ओर, सर्वव्यापी भावकी ओर, शान्त अद्वैत तत्त्वकी ओर ले जाय वह 'समष्टि' है। हिन्दू धर्मने स्वीकार किया है कि जगत 'एक' हीकी बहुरूपमें परिणति या विवर्तन है। 'एक' ही बहु हैं और बहु भी मूलतः 'एक' है। बहुत्वमें एकत्वकी उपलब्धि करना, एक और बहुका एकत्व स्थापित करना, व्यष्टि-समष्टि भावका, व्यस्त-समस्त हवन-का उद्देश्य है।

व्यष्टि समष्टिकी ही विभूति, समष्टिका विभिन्न रूपोंमें अवस्थान अथवा विभिन्न प्रतिबिम्ब हैं। समष्टि एकतत्त्व, एकरस, सर्वव्यापी है। उनके अलावा और कुछ नहीं है, अवकाश भी नहीं है। इसलिए उसका विभाग नहीं किया जा सकता। समष्टि पुरुषके अवयवोंमें भिन्नता रहते हुए भी उनके प्रत्येक अवयवमें अन्य अवयवोंके भाव गूढ़रूपमें वर्तमान हैं। अन्यथा उनके विभिन्न अंगोंसे विभिन्न देवताओंकी उत्पत्ति एवं उनके अंश जीवमें पूर्णत्वका बीज रहना सम्भव नहीं हैं। जीव व्यष्टि है, भगवान समष्टि हैं। व्यष्टि जितना समष्टि भावापन्न होगा अर्थात् साधक जितना ईश्वरके निकटवर्ती रहेगा, उतना ही ईश्वरका स्वरूप, ईश्वरका भाव, ईश्वरका अद्वैत तत्त्व, ईश्वरका प्रेम उसके भीतरसे विकसित होगा। व्यष्टिका कल्याण समष्टिके कल्याणके ऊपर सम्पूर्णतः निर्भर करता है। व्यष्टिके भीतर समष्टि बीजाकारमें निहित है। अतएव व्यष्टिको पूर्णता प्राप्त करने के लिए समष्टि भावापन्न होना ही पड़ेगा। साधना-की परिपक्वावस्थामें अपने आत्माके व्यापकत्वका ज्ञान हो जानेपर सर्वजीवकी आत्मीयभावमें उपलब्धि होती है। इस अवस्थामें अपने-परायेका भेद नहीं रहता। जब तक अपने शरीरका ज्ञान रहता है, तबतक जगतके सब शरीर अपने मालूम होते हैं। और जब अपने शरीरका अस्तित्व नहीं रहता, तब उस

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

अन्यक्तावस्थामें जगतकी कोई भी चीज प्रतिभात नहीं होती। इसीलिए कहा गया—"अतो मम जगतसर्वं अथवा न च किंचन।"

ज्ञानीगण विश्वास करते हैं कि जो-जो तत्व विश्व (macro-cosm) में हैं, वे सब विश्वके प्रत्येक परमाणु (micro-cosm) में हैं। Whatever exists in the universe exits in every atom of the universe. जीवकी देहमें जगतके समस्त रहस्य एवं तत्व वर्तमान हैं। इस दृष्टिसे व्यष्टि केवल समष्टिका अंश ही नहीं है, बल्कि व्यष्टिकी पूर्ण परिणति सर्वोच्च अवस्था समष्टि है। हम व्यष्टिका स्वरूप ढूँढ़ते-ढूँढते जब आत्मा तक पहुँच जाते हैं, तब आत्माका सर्वगत भाव अनुभवमें आता है। इस अवस्थामें व्यष्टि और समष्टिका भेद रहित हो जाता है। जिस समाज या देशमें व्यष्टि-समष्टिका भेद जितना कम होगा, अर्थात् एक दूसरेकी चरम उन्नतिमें सहायक होगा, वह समाज या देश उतना ही उन्नत एवं सम्पन्न होगा।

प्राचीन ऋषियोंने आत्माके सर्वव्यापी सर्वगत भावकी उपलब्धि की थी। नेति-नेति साधनाके फलस्वरूप आत्मा जब स्वरूपप्रतिष्ठ होकर अपना सर्वगत-भाव उपलब्ध करता है, तब उसके निकट व्यष्टि-समष्टिजनित किसी प्रकारका भेद नहीं रह जाता। तब सबकी उन्नतिमें अपनी उन्नति, सबके ऐश्वर्यमें अपना ऐश्वर्य, सबके आनन्दमें अपना आनन्द अनुभव होता है। इस भावकी प्राप्तिके लिए साधन भजनकी आवश्यकता है।

प्रत्येक व्यष्टिमें समष्टि पूर्णरूपेण अवस्थित है। प्रत्येक व्यष्टिमें पूर्ण समष्टि भाव लाभ करनेकी योग्यता है। इस व्यष्टिको समष्टिका अंश भी नहीं कहा जाता, प्रतिबिम्ब भी नहीं कहा जाता। कारण, निरंशका अंश कैसे होगा, पूर्णका प्रतिबिम्ब कहाँ पड़ेगा? पूर्णके बाहर स्थान ही कहाँ है? परस्परविरुद्ध भावोंका अपूर्व समन्वय होनेके कारण, समष्टिमें सब असम्भव सम्भव हो जाते हैं।

व्यष्टि-समष्टि तत्त्वका स्वरूप न जाननेके कारण ही आजकल जगतमें इतनी अशान्ति है। समष्टिके प्रकृत स्वरूपको न जाननेके कारण, हम समस्त मानव जातिके हितके बदले, अपनेआपको एक क्षुद्र जाति या देशमें सीमाबद्ध

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

व्यष्टि-समष्टि तत्त्व

'वि' पूर्वक 'अस्' धातुसे व्यष्टि शब्द बनता है। 'अस्' का अर्थ है–क्षेपण करना। जो भावना पृथकत्वकी ओर, बहुकी ओर लेजाय, जो बहुभावापन्न है, उसका नाम 'व्यष्टि' है। और जो भावना समूहकी ओर, सर्वव्यापी भावकी ओर, शान्त अद्वैत तत्त्वकी ओर ले जाय वह 'समष्टि' है। हिन्दू धर्मने स्वीकार किया है कि जगत 'एक' हीकी बहुरूपमें परिणति या विवर्तन है। 'एक' ही बहु हैं और बहु भी मूलतः 'एक' है। बहुत्वमें एकत्वकी उपलब्धि करना, एक और बहुका एकत्व स्थापित करना, व्यष्टि-समष्टि भावका, व्यस्त-समस्त हवनका उद्देश्य है।

व्यष्टि समष्टिकी ही विभूति, समष्टिका विभिन्न रूपोंमें अवस्थान अथवा विभिन्न प्रतिबिम्ब हैं। समष्टि एकतत्त्व, एकरस, सर्वव्यापी है। उनके अलावा और कुछ नहीं है, अवकाश भी नहीं है। इसलिए उसका विभाग नहीं किया जा सकता। समष्टि पुरुषके अवयवोंमें भिन्नता रहते हुए भी उनके प्रत्येक अवयवमें अन्य अवयवोंके भाव गूढ़रूपमें वर्तमान हैं। अन्यथा उनके विभिन्न अंगोंसे विभिन्न देवताओंकी उत्पत्ति एवं उनके अंश जीवमें पूर्णत्वका बीज रहना सम्भव नहीं है। जीव व्यष्टि है, भगवान समष्टि हैं। व्यष्टि जितना समष्टि भावापन्न होगा अर्थात् साधक जितना ईश्वरके निकटवर्ती रहेगा, उतना ही ईश्वरका स्वरूप, ईश्वरका भाव, ईश्वरका अद्वैत तत्त्व, ईश्वरका प्रेम उसके भीतरसे विकसित होगा। व्यष्टिका कल्याण समष्टिके कल्याणके ऊपर सम्पूर्णतः निर्भर करता है। व्यष्टिके भीतर समष्टि बीजाकारमें निहित है। अतएव व्यष्टिको पूर्णता प्राप्त करने के लिए समष्टि भावापन्न होना ही पड़ेगा। साधनाकी परिपक्वावस्थामें अपने आत्माके व्यापकत्वका ज्ञान हो जानेपर सर्वजीवकी आत्मीयभावमें उपलब्धि होती है। इस अवस्थामें अपने-परायेका भेद नहीं रहता। जब तक अपने शरीरका ज्ञान रहता है, तबतक जगतके सब शरीर अपने मालूम होते हैं। और जब अपने शरीरका अस्तित्व नहीं रहता, तब उस

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

अव्यक्तावस्थामें जगतकी कोई भी चीज प्रतिभात नहीं होती। इसीलिए कहा गया—"अतो मम जगतसर्वं अथवा न च किंचन।"

ज्ञानीगण विश्वास करते हैं कि जो-जो तत्व विश्व (macro-cosm) में हैं, वे सब विश्वके प्रत्येक परमाणु (micro-cosm) में हैं। Whatever exists in the universe exits in every atom of the universe. जीवकी देहमें जगतके समस्त रहस्य एवं तत्व वर्तमान हैं। इस दृष्टिसे व्यष्टि केवल समष्टिका अंश ही नहीं है, बल्कि व्यष्टिकी पूर्ण परिणति सर्वोच्च अवस्था समष्टि है। हम व्यष्टिका स्वरूप ढूँढ़ते-ढूँढते जब आत्मा तक पहुँच जाते हैं, तब आत्माका सर्वगत भाव अनुभवमें आता है। इस अवस्थामें व्यष्टि और समष्टिका भेद रहित हो जाता है। जिस समाज या देशमें व्यष्टि-समष्टिका भेद जितना कम होगा, अर्थात् एक दूसरेकी चरम उन्नतिमें सहायक होगा, वह समाज या देश उतना ही उन्नत एवं सम्पन्न होगा।

प्राचीन ऋषियोंने आत्माके सर्वव्यापी सर्वगत भावकी उपलब्धि की थी। नेति-नेति साधनाके फलस्वरूप आत्मा जब स्वरूपप्रतिष्ठ होकर अपना सर्वगत-भाव उपलब्ध करता है, तब उसके निकट व्यष्टि-समष्टिजनित किसी प्रकारका भेद नहीं रह जाता। तब सबकी उन्नतिमें अपनी उन्नति, सबके ऐश्वर्यमें अपना ऐश्वर्य, सबके आनन्दमें अपना आनन्द अनुभव होता है। इस भावकी प्राप्तिके लिए साधन भजनकी आवश्यकता है।

प्रत्येक व्यष्टिमें समष्टि पूर्णरूपेण अवस्थित है। प्रत्येक व्यष्टिमें पूर्ण समष्टि भाव लाभ करनेकी योग्यता है। इस व्यष्टिको समष्टिका अंश भी नहीं कहा जाता, प्रतिबिम्ब भी नहीं कहा जाता। कारण, निरंशका अंश कैसे होगा, पूर्णका प्रतिबिम्ब कहाँ पड़ेगा? पूर्णके बाहर स्थान ही कहाँ है? परस्परविरुद्ध भावोंका अपूर्व समन्वय होनेके कारण, समष्टिमें सब असम्भव सम्भव हो जाते हैं।

व्यष्टि-समष्टि तत्त्वका स्वरूप न जाननेके कारण ही आजकल जगतमें इतनी अशान्ति है। समष्टिके प्रकृत स्वरूपको न जाननेके कारण, हम समस्त मानव जातिके हितके बदले, अपने आपको एक क्षुद्र जाति या देशमें सीमाबद्ध

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

करके, दूसरी जाति या देशका अनिष्ट करने लगते हैं। फिर, व्यष्टि और समष्टिके भीतरके सम्बन्धको न समझनेके फलस्वरूप हम अनेक समय व्यष्टिका कल्याण करनेमें समाज और देशका अकल्याण कर बैठते हैं अथवा समाजका कल्याण करनेमें व्यष्टिके जीवनसे घृणा करने लगते हैं और व्यष्टिकी उन्नतिमें बाधा देते हैं। और व्यष्टिके पक्षसे व्यष्टिके प्रकृत स्वरूपको न जाननेके कारण उसका प्रकृत कल्याण कैसे होगा, यह भी नहीं समझ पाते। जिस देश या समाज-में व्यष्टिकी पूर्णोन्नतिमें बाधा देनेकी व्यवस्था है, उस देश या समाजको आदर्श नहीं माना जा सकता। हमारे नेताओंमें अनेक तो अपने स्वार्थ, प्रतिष्ठा, सुख-आराममें ही व्यस्त हैं। आदर्श नेताका स्वरूप हमें मारकण्डेय पुराणमें चण्डी देवीके स्वरूपकी वर्णनामें अति सुन्दर रूपसे देखनेको मिलता है। उनका रूप बताया गया है, समस्त देवताओं एवं जीवोंके सौन्दर्य-माधुर्यके सार अंशसे बना हुआ। उनकी शक्ति सब देवताओंकी शक्तियोंकी समष्टि है। वे बलपूर्वक कहती हैं—"द्वितीया का ममापरा" (मुझसे पृथक् कोई नहीं है)। आदर्श व्यक्ति समस्तका प्रतिनिधि है। सबका ज्ञान, सुख, शान्ति ही उसका ज्ञान सुख, शान्ति है। एकमत न होते हुए भी वह किसीको बाद नहीं दे सकता। आदर्श जीवनमें हमें भगवानकी समष्टिगत मूर्तिका आभास मिलता है। यह समष्टि किसी व्यष्टिका प्रतिबन्धक नहीं है, सबकी उन्नतिमें सहायक है। आदर्श महापुरुषमें स्वार्थ-परार्थका भेद सम्पूर्णतः तिरोहित हो जाता है। हम इसी मूर्तिमें जगन्माताकी एक सुन्दर मूर्ति देखते हैं। आर्य ऋषिगण देशमें अशान्ति दूर करनेके लिए इस मूर्तिके शरणागत होते थे। अगर हमारी दृष्टि इस ओर होती तो आजकलके साम्यवाद, समाजतंत्रवाद, राजतंत्रवाद आदिका झगड़ा देखनेमें न आता। व्यष्टि-समष्टिका सम्बन्ध स्थापित करनेके लिए ही व्यष्टि-समष्टि हवन है। व्यष्टिको पूर्णत्व प्राप्त करनेके लिए समष्टिमें आहुति देना ही होगा। रामानुजकी नारायण मूर्ति, गीताका विश्वरूप पुरुषोत्तम, समष्टि तत्त्वका आभास प्रदान करते हैं। इस समष्टिमें प्रत्येक व्यष्टि और उसकी सर्वोच्च उन्नतिका आभास देखनेको मिलता है। हिन्दुओंका समस्त पूजातत्त्व, साधनरहस्य समष्टितत्त्वके अन्तर्गत हैं। हिन्दुओंके ईश्वर पूर्ण विकसित समष्टि

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal.

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

तत्त्व हैं। उनमें सब मंत्रोंके रहस्य एवं 'तत्' और 'त्वं' के स्वरूप, सम्बन्ध और मिलनका समावेश है।

प्राचीन आर्य सभ्यताका समष्टिकी ओर प्रधान लक्ष्य था। पूर्णता प्राप्त समष्टि तत्त्व ही उनके इष्ट, प्रार्थित आराध्य वस्तु अथवा उपास्य ईश्वर थे। यही थे उनके 'सत्यं ज्ञानं अनन्तं' ब्रह्म एवं 'आनन्द रूपं अमृतं' तत्त्व। स्वयं 'शान्तं-शिवं-अद्वैतं' स्वरूप-लाभ करना ही उनका प्रधान उद्देश्य था। यह समष्टिगत समरस इष्टतत्त्व सर्वविध विकार-रहित हैं। इनकी आराधनासे हमारे सब विकार दूर हो जाते हैं। यही हैं ज्ञानस्वरूप, स्वयंप्रकाश, ब्रह्मज्योति, जिनके आलोकमें ऋषिगण सब सत्य-असत्य, कर्तव्य-अकर्तव्य निर्धारण करते थे। यही है सर्वश्रेष्ठ सार वस्तु, अनन्त in intensity एवं in extensity, जिनमें सब सन्निहित हैं

दीक्षाके समय हमारा इष्टतत्त्व निर्णीत होता था। यह हमारे जीवनके लक्ष्य, सार तत्त्व, आराध्य वस्तु होते थे। ये इष्टतत्त्व ही समष्टिकी पूर्णता प्राप्त मूर्ति हैं। इन्हींको चण्डीमें 'एकैकस्था नारी', गीतामें 'पुरुषोत्तम' कहा गया है। भगवान बुद्ध, ईसा, चैतन्य, आदि इन्हीं पुरुषोत्तमके अवतार थे। इसीलिये समष्टिके कल्याणके लिये पागलकी तरह इधर-उधर घूमते-फिरते थे। वर्तमान समयमें हम माननेको बाध्य हैं कि जो जाति या देश समष्टिके कल्याणके लिए जितना त्याग कर सकता है, वह उतना ही उन्नत होगा। **त्यागकी महिमा भूल जानेके कारण ही हम आज पराधीन और पर-पदानत** हैं। पुरुषोत्तम ही सब प्रकारसे पूर्णता-प्राप्त आदर्श हैं। सबकी समृद्धिमें उनकी समृद्धि, सबके ज्ञानमें उनका ज्ञान, सबकी शान्तिमें उनकी शान्तिं है। "नमस्ते जगदव्यापिके विश्वमूर्त्ते", "विश्वरूप विश्वनाथ विश्वजीव विग्रहम्" कहकर उन्हें प्रणाम किया जाता था। "वासुदेवः सर्वमिति", "नित्य सर्वगत" कहकर उनकी अनुभूति होती थी। 'ममात्मा सर्वभूतात्मा' कहकर सब जीवोंकी सेवा द्वारा उनकी सेवा की जाती थी। "यत्र नारी तत्र गौरी— यत्र जीव तत्र शिव", कैसे ऊँचे दरजेके आदर्श थे। आर्य जातिके लिए जीवकी सेवा ही शिवकी सेवा, भगवानकी पूजा, जीवनका लक्ष्य था। वे किसीको

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

'पर' नहीं मानते थे। उनके लिए सब ही अपने प्रियतम इष्टकी लीलास्वीकृत विग्रह अथवा अपने आत्माकी विभूति थे। जीवका दुःख उन्हें अपना ही दुःख मालूम होता था। जीवकी सेवा उन्हें अपनी ही सेवा मालूम पड़ती थी। यह आदर्श ही उनकी दीक्षाका मंत्र था। उनके भाव, वचन और कर्म द्वारा यह आदर्श प्रचारित होता था।

इस प्रसंगमें तुलनीय है 'तत्त्वमसि' महावाक्य। 'तत्' शब्दमें है वही समष्टिगत चरम सार तत्त्व और 'त्वं' शब्दमें है व्यष्टिगत कर्ताभोक्तारूप पूर्ण जीवात्मा। 'त्वं' 'तत्' के अलावा और कुछ नहीं है—दोनोंमें एक अच्छेद्य सम्बन्ध हैं। इस इष्टकी साधना ही उनके साधन भजनका लक्ष्य था। वे इष्टके ध्यानमें समाहित, तद्भावापन्न होकर सर्वत्र अपने इष्टकी सत्ता उपलब्धि करते थे। 'मैं चन्द्र हूँ,' 'मैं सूर्य हूं' आदि वचन इसके साक्षी हैं। अपने भीतर इन समष्टिभूत इष्टका दर्शन कर उनके सब भेद-भाव, ईर्ष्या-द्वेष; द्वैतभाव दूर हो जाते थे। तब वे हो जाते थे ब्रह्मभूत और लाभ करते थे सर्वत्र ब्रह्मानुभूति। तब उनका एकमात्र कार्य होता था सच्चिदानन्दका स्फुरण; भगवदिच्छाका पूरण, जीवका प्रकृत कल्याण-साधन। यहाँ तक कि उनका अपना आहार-विहार भी पूजामें परिवर्तित हो जाता था। यज्ञेश्वरका निर्वाचन, यज्ञेश्वरकी पूजामें हमें इसी आदर्शका सन्धान मिलता है।

राम, कृष्ण, बुद्ध, ईसाको हम इसी आदर्शका जीवन्त स्वरूप मानकर शिक्षा प्राप्त करते हैं।

●

शब्द-रहस्य

In the beginning it was Word, the Word was with God and the Word was God—Bible.

किसी विषयको जाननेके लिए सबसे पहले शब्दतत्त्व, शब्द-रहस्य समझना आवश्यक है। आर्य ऋषियोंने सब तत्त्वोंके पीछे 'एक' महान सत्यकी उपलब्धि की थी। समस्त जीव-जगत उसी महान 'एक' का विवर्तन या परिणति है।

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

वह महान 'एक' जब 'आनन्द प्राचुर्यात्' लीला करनेके लिए बहु हुए, तब बहुके प्रत्येक तत्त्वमें उस 'एक' की छाप या प्रतिबिम्ब पड़ गया। वह 'एक' सबमें अनुप्रवेश कर, सबके भीतरसे आत्मप्रकाश करनेको व्यस्त हो गये। वे महान एकस्वरूप होते हुए भी कारण-सूक्ष्म-स्थूल, आध्यात्मिक-आधिदैविक-आधिभौतिक, इन त्रिविध तत्त्वोंमें, त्रिविध रूप, त्रिविध नाम धारण किये हुए हैं। उन मूलस्वरूप एकत्त्वको हम 'परा' नामसे कहते हैं। वे कारण अवस्थामें 'पश्यन्ती', सूक्ष्म शरीरमें (मानसिक जगतमें) 'मध्यमा' और स्थूल जगतमें 'वैखरी' नामसे परिचित हैं। अतः सभी शब्द परावस्थामें ब्रह्मके द्योतक हैं; पश्यन्ती अवस्थामें जीवात्मा, मध्यमा अवस्थामें मानसिक भाव एवं वैखरी अवस्थामें स्थूल भाव प्रकाशित करते हैं। अग्नि परावस्थामें हैं स्वयं 'ब्रह्म'; पश्यन्ती अवस्थामें 'देवस्य भर्ग' (ब्रह्मज्योति, ब्रह्मज्ञान); मध्यमा (सूक्ष्म) अवस्थामें 'प्राण' 'वैश्वानर' और स्थूल अवस्थामें साधारण 'आग'। इसी प्रकार तीर्थ, जल, वायु इत्यादि सब शब्दोंमें इन चारों भावोंका परिचय मिलता है। वेदमें अग्निका कहीं परब्रह्म, कहीं प्राणाग्नि, कहीं स्थूल अग्नि रूपमें वर्णन किया गया है। तत्त्वको समझानेके लिए शब्दकी किस अवस्थाकी ओर लक्ष्य रखा गया है, इसका विचार आवश्यक है। तात्त्विक कृष्ण अखण्ड अद्वय तत्त्व हैं; वृन्दावन छोड़कर कहीं नहीं जाते। ऐतिहासिक कृष्ण वसुदेवके पुत्र थे। मथुरा, कुरुक्षेत्र, द्वारकामें उनका गमन अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

यज्ञतत्त्व समझनेके लिए भगवत्तत्त्व, अग्नितत्त्व, इड़ा और सोमतत्त्व समझ लेना आवश्यक है।

इड़ा—(१) वाग्देवी, शब्दब्रह्म (Word of God), ब्रह्मज्ञान। (२) अम्भृण ऋषिकी पुत्री, मनुकी कन्या, (३) ईसाका रक्त माँस, यजमानके पशुका प्रतीक—पुरोडाश। "He that eateth my Flesh and drinketh my Blood dwelleth in Me and I in him"—Christ.

सोम—ब्रह्मज्ञान, सहस्रार विगलित सुधा, एक प्रकारकी मदिरा। शब्द तत्त्वकी जैसे परा, पश्यन्ती, आदि चार अवस्थाएँ बतायी गयीं, स्पर्श-रूप-रस-गन्धके विषयमें भी ऐसा ही समझना चाहिए।

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

वेद

भगवान एकाधारमें विधान एवं विधाता हैं। उन्होंने विधानके साथ अपने-आपको ऐसा मिला दिया है कि विधाताको विधानसे पृथक् नहीं किया जा सकता। वेद भगवत्-विधान है, श्रीभगवानकी चिद्विभूति हैं अर्थात् सच्चिदानन्दके ज्ञानके महिमा हैं। सुतरां विधाता जैसे नित्य हैं, उनका विधान भी उसी प्रकार नित्य है। ये अग्नि और अग्निकी दाहिका शक्तिके नांई एक अपृथक्, अखण्ड, अद्वय तत्त्व हैं। वेदको नित्य अपौरुषेय स्वीकार किया गया है। वेदका मूल ग्रन्थ प्रकृति है। प्रकृतिके द्वारा ही भगवान अपने-आपको प्रकाशित कर रहे हैं। विधाताने प्रकृतिके कलेवरमें वेद अपने हाथसे लिखकर रख दिये हैं। जिनके दिव्य चक्षु हैं, वे वेद देखते हैं, जिनके पास दिव्य मन है, वे वेद समझ सकते हैं, जिनका दिव्य चित्त है, वे वेदकी धारणा कर सकते हैं।

प्राचीन ऋषियोंने अपने साधनबलसे दिव्य दृष्टि प्राप्त कर, भगवानके हाथसे लिखे हुए, वेद मंत्रोंको देखा। "ऋषयः मंत्रद्रष्टाः स्मारकाः न तु कारकाः"—ऋषिगण वेदमंत्रों के द्रष्टा एवं स्मारक थे, कारक (रचयिता) नहीं थे। जैसे मध्याकर्षण चिरकालसे था, न्यूटनने उसका आविष्कार मात्र किया। इसी प्रकार वेद भी नित्य हैं, युग-युगमें ऋषियोंने वेद–मन्त्रोंका दर्शन-कर उन्हें प्रकाशित किया। उन्होंने जिन वेदमन्त्रों का आबिष्कार किया, शिष्य परम्परा द्वारा उनका प्रचार होने लगा। परवर्ती कालमें अनेक ऋषिकल्प महात्माओंने कुछ मन्त्र आविष्कार किये और अपने-अपने सम्प्रदायसे उनका प्रचार करने लगे। इस प्रकार मन्त्रोंकी संख्या बढ़ने लगी और बादमें ऐसा समय आ गया कि मन्त्रोंमें श्रृंखला और सामंजस्यका अभाव दीखने लगा। तब भगवान वेदव्यासने मन्त्रोंको संग्रह कर श्रेणीबद्ध किया। अति प्राचीन विद्याका नाम 'वेद' था। यह क्रमशः वहुत शाखाओंमें विभक्त होकर अनेक देशोंमें फैल गयी। यह विद्या प्राप्त करनेके लिए छात्रोंको उपयुक्त आचार्यके

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

पास जाना होता था। इस क्रियाका नाम 'उपनयन' था। उपयुक्त विद्या प्राप्त करके गृह वापस आजानेका नाम 'समावर्तन' था। उपयुक्त रूपमें वेद या वेदकी शाखाका अध्ययन किये बिना किसीको गृहस्थ आश्रममें प्रवेश करने का अधिकार नहीं था। कुछ विधि-निषेधके नियमोंके द्वारा मनुष्यको आदर्श जीवन लाभ करनेके लिए तैयार किया जाता था। इसका नाम था—'संस्कार'। दशविध संस्कारोंमें प्रधान संस्कार था विवाह। गृहस्थाश्रमका स्थान सर्वोपरि था। जिस समाजमें मूर्ख अशिक्षितोंका स्थान नहीं था, जिस समाजमें सब धर्म-कर्म सुन्दर रूपसे परिचालित होते थे, उसका नाम 'द्विज' समाज था। सामाजिक जीवनमें पूर्णता प्राप्त करनेके लिए विवाह एक मुख्य कार्य था। वेदपन्थी अपने-आपको 'द्विज' कहते थे; और सब लोगोंका साधारण नाम शूद्र था। यह द्विजगण समाजमें अपने-अपने अधिकारानुसार विभिन्न कार्य करते थे। कोई विद्या-दान करते थे, कोई राजकार्य चलाते थे, कोई कृषि-गोरक्षाके काममें नियुक्त रहते थे। वंशकी रक्षा, धर्मकी रक्षाकी ओर इनका प्रधान लक्ष्य था। समाज स्थिति और लोक स्थितिके लिए एवं जीवनमें पूर्णता और शान्ति लाभ करनेके लिए जो भी सामाजिक अनुष्ठान किये जाते थे, उनका साधारण नाम 'यज्ञ' था।

वेद साधारणतः दो भागोंमें विभक्त थे—मंत्र और ब्राह्मण। ब्राह्मण ग्रन्थ यज्ञतत्त्वके वर्णनसे परिपूर्ण हैं। दोनों ही नित्य एवं अपौरुषेय हैं। इनके प्रचारक ऋषि थे। मंत्रात्मक वेदविद्याका साधारण नाम था 'त्रयी'—ऋक, यजुः, साम। ऋक् मंत्र पद्यमें छन्दमें थे; यजुः मंत्र गद्यमें थे; साममंत्रके नामके कोई पृथक् मंत्र नहीं थे। ऋक्मंत्र जो सुर-तालमें गाये जाते थे, वह 'साम' कहे जाते थे। मंत्र—ऋक्, यजुः और साम—इन तीन भागोंमें विभक्त होनेपर भी संहिता चार थीं। संहिता माने संग्रह। ऋक्मंत्रोंके संग्रहका नाम 'ऋक् संहिता', यज्ञमें व्यवहृत मन्त्रोंके संग्रहका नाम 'यजुः संहिता' और यज्ञके समय काल सम्बन्धीय एवं संगीतोंके संग्रहका नाम 'साम संहिता' था। और भी कुछ मंत्र थे जो यज्ञ में नहीं लगते थे, किन्तु शान्ति-स्वस्त्ययनमें व्यवहार होते थे, उन सबका नाम 'अथर्व सहिता' था। ब्राह्मण ग्रन्थोंमें बताया गया है कि किस मंत्रकी क्या सार्थकता है, क्या तात्पर्य है एवं किस मंत्रका कहाँ प्रयोग करना चाहिए।

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

समस्त वेदपन्थोयोंमें ब्राह्मण ग्रंथकी प्रतिष्ठा थी। ब्राह्मण ग्रन्थ स्वतः प्रमाण वेद-वाक्य माने जाते थे। इष्टमूर्ति मानकर वेदकी पूजा की जाती थी, यत्नपूर्वक रक्षा की जाती थी; पाठका माहात्म्य था। कर्मकाण्डकी ओर अधिक दृष्टि होते हुए भी लक्ष्य था मूल कारण सत्ताकी ओर। कुछ समय बाद मतभेद आ गया और इनमें सामंजस्य रखनेके लिए क्रमशः कर्म-मीमांसा और दर्शन-शास्त्र रचे गये। कहा जा सकता है कि यहींसे समाजका पतन आरम्भ हुआ।

वेद विश्वकी जननी हैं। उनका सब सन्तानोंपर समान प्रेम है। 'एक' ने जब बहु होनेकी इच्छा की, तो इस प्रकार बहु हुए कि कोई दो जीव सब प्रकार एकसे नहीं हैं। पृथिवीपर नाना प्रकारके लोग हैं—पिशाच, नर, देवता। वेदमें सबके लिए स्थान है। वेदने किसीको बाद नहीं दिया; किसीको तुच्छ नहीं किया। वेद पिशाच तकको अति सुन्दरतासे नरभूमिमेंसे होते हुए देवभूमि तक पहुँचा देते हैं—यह देखकर विस्मय होता हैं। वेद भोगीको भोगके उपकरण और भोग करनेका कौशल, रोगीको स्वास्थ्य-लाभ करने के उपाय, योगीको योगकी प्रणाली—सिद्धिका प्रलोभन, ज्ञानीको ज्ञानका पथ, प्रेमीको प्रेमका तत्त्व, भक्तको भक्तिका रहस्य बताकर मुग्ध करते हैं। जो केवल लौकिक सुख चाहते हैं, वेद उनको रुचिकर भोग्य पदार्थोंके द्वारा अज्ञात रूप से प्रकृत आनन्दके पथपर ले जानेकी चेष्टा करते हैं। ऐसे लोगोंके लिए द्रव्यात्मक यज्ञ निर्धारित किया गया। ऐसे लोगोंके देवता हैं मनुष्योचित, ऐश्वर्ययुक्त, सुख भोगमें निमग्न देवता। द्रव्योंके शोधनकी आहुतिके मंत्रोंमें ऐसा भाव रखा गया है कि साधक अपने-आप क्रमशः भावनात्मक-ज्ञानात्मक यज्ञकी ओर आकृष्ट होता है। हम कैसे एक-दूसरेसे सम्बद्ध हैं, एकका कल्याण किस प्रकार दूसरे के कल्याण-पर निर्भर करता है, सबको सुखी करना हमारे सुखके लिए कितना जरूरी हैं, इत्यादि भाव बताकर, वेदोंमें अति सुन्दरतासे मैत्रीकी भावना स्थापित करनेकी चेष्टा की गयी है। यज्ञके इड़ा-भक्षण आदिके मंत्र इसके साक्षी हैं। देवता हमारे भाग्यके विधाता हैं; ऐश्वर्य, वीर्य, ज्ञान और आनन्दके दाता हैं—पहले यह भाव दिखाकर देवताओंको सन्तुष्ट करनेके लिए लुब्ध किया गया है। फिर देवताओंके स्वरूपका वर्णन करके, उनकी मौलिक एकता बताकर हमारे

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri
बीच एकता लानेकी चेष्टा की गयो है। वेदके पदोंमें अर्थ निहित है और शब्द अज्ञातरूपसे हमें अर्थकी ओर आकर्षित करता है। इसीलिए द्रव्यात्मक यज्ञ भी हमें आनन्दका आस्वादन कराके क्रमशः भावनात्मक यज्ञकी ओर ले जाता है।

पृथ्वीपर खराब लोग ही अधिक हैं, उत्तम लोगोंकी संख्या बहुत कम हैं। इसी प्रकार कर्ममें भो कुकर्म, सुकर्म, निष्काम कर्म आदि भेद हैं। खराब लोगोंको प्रलोभन दिखाकर किस प्रकार कुकर्मसे सुकर्ममें ले जाया जा सकता है—इसके नाना उपाय वेदोंमें निर्देश किये गये हैं। जो सर्वदा मांस खाता है, उसके सामने धीरे-धीरे हिंसाके परिणामका एक चित्र रखकर, उसे अहिंसक बनानेकी व्यवस्था की गयी है। इसीलिए कहा गया है कि वेदमें एवं तंत्रमें हिंसाका भाव जो आ गया, वह मनुष्यके चित्तसे धीरे-धीरे हिंसाका भाव दूर करनेके लिए।

(१) पहले बताया गया है कि देवता लोभनीय वस्तु हैं और समस्त लौकिक सुख देवताओंकी कृपा पर निर्भर करता है। इसके फलस्वरूप हम देवताओंका सन्तुष्ट करनेके लिए, देवताओंको प्राप्त करनेके लिए लुब्ध हो जाते हैं।

(२) देवताओंका वासस्थान स्वर्ग है। वहाँ सब प्रकारके भोगोंकी सामग्री है। वहाँ देवताओंका सामर्थ्य भी अतुलनीय है। वहाँ जाया जा सकता है और अतुल ऐश्वर्य भोग किया जा सकता है। इसके फलस्वरूप साधारण मनुष्य स्वर्ग जानेको लुब्ध होता है।

(३) प्रत्येक देवतामें भी दो तत्त्व हैं। बाहरके तत्त्वकी अपेक्षा भीतरका तत्त्व अधिक सुन्दर, रमणीय एवं नित्य है। जितना ही उनका सान्निध्य लाभ किया जाय, उतना ही उनके स्वरूप को ओर दृष्टि आकृष्ट होती है और उनके पास जानेकी इच्छा बलवती हो जाती है।

(४) सब तत्त्व, सब पदार्थ उसी 'तत्' पदार्थ (परम पद) के विभिन्न अनुभव योग्य विकास हैं। इसीलिए उनके भीतरका निहित 'तत्' पदार्थ धीरे-धीरे मनुष्यके मनको अपनी ओर खींच लेता है। प्रत्येक पदार्थमें विष्णुका परम पद छिपा हुआ है, जो अपने अर्थ, विभूति और महिमाके माध्यमसे मनुष्यके मनको परमपदकी ओर ले जानेमें सक्षम है। यज्ञकी अनुष्ठान-विधि भी यदि

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri
ठीकसे पालन की जाय तो यजमानका मन अज्ञातरूपसे भीतरके सार तत्त्वकी ओर आकृष्ट होता है।

वेदोंमें देवतातत्त्व और यज्ञत त्वका विवेचन है। गहराईसे विचार करनेसे समझमें आता है कि देवतातत्त्व और यज्ञतत्त्वमें जगतके सब तत्त्व, साधन-भजनके सब रहस्य निहित हैं। जो केवल बाहरी दृष्टिसे वेद पढ़ते हैं, वे वेदको सकाम प्रार्थनासे परिपूर्ण समझते हैं। किन्तु जो निर्दिष्ट प्रणालीसे अध्ययन करते हैं, जो वेदकी साधन-प्रणालीसे परिचित हैं, वे वेदकी ओर आकृष्ट हुए बिना नहीं रह सकते।

वैदिक युगके लोग, ऋषि और उनके शिष्य उलंग शिशुकी भाँति अति सरल थे। उनके भाव, कर्म, वचनमें कोई पार्थक्य नहीं होता था। आजकलके लोगोंकी तरह उन्होंने अपने भीतरकी मलिनताको ढकनेके लिए शठता, कपटता, कुटिलताका आश्रय लेना नहीं सीखा था। वे समझ ही नहीं सकते थे कि मनुष्य कैसे बातोंमें पण्डित, सभामें शिक्षित और कार्य-व्यवहारमें नरपिशाच हो सकता है। जो केवल मुखसे 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' प्रचार करते हैं और धनागमके लिए अथवा स्वार्थके लिए ऐसा कोई अन्याय कार्य नहीं जो न कर सकते हों; उनके लिए वैदिक युगका साधन-रहस्य समझना सचमुच बड़ा कठिन है। रत्नको जौहरी ही पहचान सकता है। असाधु साधुका माहात्म्य कैसे समझेगा?

वैदिक युगके ऋषि और उनके शिष्योंका अभाव बहुत ही अल्प था। वे स्वभावमें स्थित नित्यतृप्त थे। अहंकार दूर हो जानेके फलस्वरूप वे समझ गये थे कि भगवान किसीका अभाव अपूर्ण नहीं रखते। जब वे देखते कि भगवानने उनके बिना माँगे ही उनके सब अभाव पूर्ण करनेका प्रबन्ध कर दिया, मांगनेकी जरूरत ही नहीं रखी, तो कृतज्ञताके भारसे उनका मस्तक भगवानके आगे सर्वदा नत रहता था। ठीक इसके विपरीत, हम चाहते हैं, आशा करते हैं मनुष्यसे, निर्भर करते हैं अपनी बल-बुद्धि पर, विश्वास करते हैं अपनी छल-चतुराईका। ऋषि बालक भी विश्वासी भक्त थे, भगवत्-कृपापर निर्भर करते थे। अपने अभाव-अभियोग भगवानसे निवेदन करते थे। प्रार्थना करते ही उनके अभाव पूर्ण हो जाते थे। इस निर्भरताके फलस्वरूप निष्काम भाव
Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

अपने-आप जाग्रत हो जाता था। इसलिए वेदमें सकाम भाव देखकर हमें भय नहीं होता, वरन सरल शिशुकी भाँति भगवानके ऊपर निर्भर करनेकी शिक्षा ग्रहण करते हैं। उसके ऊपर वेदकी उच्चांग शिक्षामें भावनात्मक निष्काम यज्ञका आभास पाकर असीम तृप्ति लाभ होती है। वेदके बारेमें लोगोंकी गलत धारणाको दूर कर, यज्ञका प्रकृत स्वरूप समझाकर, सबको यज्ञकी ओर आकृष्ट करना ही हमारा उद्देश्य हैं। लेकिन काल-क्रमसे देश-काल-पात्रमें परिवर्तन हो जानेके कारण यज्ञके कार्यमें परिवर्तन आगया है और परिवर्तन आजाना संगत एवं आवश्यक मालूम होता है। पूर्वकालमें लोगोंके अभाव बहुत कम थे, जो सहज ही पूर्ण होजाते थे। लोगोंके पास समय बहुत था। आजकल तो अन्न-वस्त्र जुटानेमें ही लोगोंका अधिकांश समय व्यतीत होजाता है। **इसलिए हम यज्ञका अनुष्ठान इस प्रकार करना चाहते हैं कि जिसमें किसीको किसी प्रकारका उद्वेग न हो, अधिक समय न लगे, खर्च भी कम हो।**

और एक बात यह है कि प्राचीन भारतमें धर्मसाधना, उपासना, जीवनगत भाव था। जीवनके सब कार्य पूजामें, यज्ञमें परिवर्तित कर देना हीं मुख्य साधना थी। 'पूजा ते विषयोपभोग रचना,' 'यत् करोमि जगन्नाथः तदेव तव पूजनम्,' इत्यादि उक्तियाँ इसकी साक्षी हैं। जगत माना जाता था—जगन्नाथका मन्दिर, जीव वेष धारण किया हुआ शिव, पति-पत्नी भगवान और भगवतीके, पुत्र-पुत्री बालगोपाल और कुमारीके, माँ-बाप अन्नपूर्णा और विश्वनाथके जीवित विग्रह। इनकी सेवाके माध्यमसे हमारी पूजा सहज, सुन्दर और स्वाभाविक हो जाती थी। इन्हें स्नान कराना, आहार कराना, यहाँ तक कि स्वयं आहार करना भी उपचार-समर्पणके अन्तर्गत था। इसीलिए वैदिक युगमें इतने देव-मन्दिर नहीं थे। सब कार्य यज्ञमें परिवर्तित कर देना ही पूजा, साधना, आरा-धना थी। वेदमें सब सामाजिक अनुष्ठानोंको यज्ञमें परिवर्तित करनेकी चेष्टा की गयी है।

वेदकी श्रुतियाँ कर्मात्मक एवं ज्ञानात्मक हैं। कर्मात्मक श्रुतियाँ देवतातत्त्व और यज्ञतत्त्वमें व्यस्त होते हुए भी अन्तमें ज्ञानकी ओर लेजाती हैं। देवतातत्त्व उसी एक ब्रह्मकी महिमा प्रकाशित करता है। कार्यजगत्में बहुत्वकी ओर

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

आकृष्ट कर, बहुत्वका प्रकृत स्वरूप दिखाकर, बहुत्वके मूल कारण एकत्वकी ओर लेजाना ही देवतातत्त्वका, देवपूजाका मूल उद्देश्य है। इसी प्रकार यज्ञतत्त्व भी कर्मका स्वरूप बता कर, कर्म किस प्रकार मुक्ति, भगवत्–प्राप्तिमें सहायक हैं, भगवत्-कार्यमें परिणत होजाता है, तामसिक जीवको भी सात्विक निष्काम भूमिमें ले जाता है। वेद हमको कर्मके द्वारा ज्ञानकी ओर, द्रव्यात्मक यज्ञके द्वारा भावनात्मक यज्ञकी ओर, भगवत्-कार्यके द्वारा भगवत् प्रेमकी ओर, जगत-व्यापारके द्वारा जगन्नाथके पास पहुँचा देते हैं। याद रखना चाहिए कि वेदका सारांश उपनिषदोंमें है, जिनसे कि हिन्दुओंके षड्दर्शन, गीता, तंत्रादि आविर्भूत हुए हैं।

ऋषि-छन्द-देवता-विनियोग

(१) **ऋषि** शब्द 'ऋष्' धातुसे बनता है। 'ऋष्' का अर्थ है—अपरोक्ष दर्शन। जिनका चित्त संयत, शुद्ध, शान्त हो जानेके फलस्वरूप अपरोक्ष दर्शन खुल गया है अर्थात् जिन्होंने सर्वत्र वैखरी तत्त्वके भीतरसे परा तत्त्व तक पहुँच जानेकी योग्यता प्राप्त कर ली है, वे ऋषि हैं। ऋषियोंकी इन्द्रियाँ शुद्ध और पूर्णताको प्राप्त हो गयी थीं। जिनका चित्त कामना-वासना आदिकी मलिनतासे मुक्त हो गया है, जो शुद्ध एवं शान्त होकर साधनबलसे भगवानके हाथका यन्त्र हो गये हैं, भगवदिच्छा पूर्ण करनेके सिवाय जिनके जीवनका और कोई लक्ष्य नहीं है, जिन्होंने दिव्य दृष्टि लाभ कर ली है, वे ऋषि कहलाने योग्य हैं। "ऋषयः मंत्रद्रष्टाः ते स्मारका न तु कारकाः"—ऋषि वेदमंत्रोंके द्रष्टा थे, रचयिता नहीं। अपरोक्ष दर्शन खुल जानेके कारण प्रकृतिके कलेवरमें भगवानके हाथसे लिखे हुए स्वप्रकाश वेदमंत्र एवं उनका सार तत्त्व उनकी अन्तर्दृष्टिमें प्रतीत होगया था। भगवान क्या है, उनकी सृष्टिका उद्देश्य क्या

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

है, कौन तत्त्व किस कामके लिए सृष्ट हुआ है, किस मंत्रमें कौन शक्ति निहित है, किस प्रकार उस शक्तिको जागरित-बोधित किया जा सकता है, कौन जीव क्या करने आया है, किस पथसे वह अपने गन्तव्य स्थान तक पहुँच सकता है, इत्यादि समस्त गूढ़ तत्त्वोंसे वे अवगत थे। सृष्टि-स्थित-लयके रहस्यका अवलम्बन कर उन्होंने देख लिया था कि भगवान एकाधारमें विधान और विधाता हैं। उनका विधान इतना पूर्ण है कि उसमें परिवर्तनकी कोई आवश्यकता नहीं। जैसे मध्याकर्षण (Earth's gravity) न्यूटनके जन्मसे कोटि-कोटि वर्ष पहले भी वर्तमान था, न्यूटनने केवल उसका आविष्कार किया, इसी प्रकार ऋषियोंने अनादिकालसे प्रकृतिके कलेवरमें लिखे हुए वेदमंत्र दर्शन किये एवं उनका प्रचार किया। जिन्होंने दिव्यदृष्टि प्राप्त कर ली है, वे आज भी प्रकृतिसे वेदमंत्र सीख सकते हैं। आर्य दर्शनशास्त्र ऋषियोंके वाक्यको सर्वश्रेष्ठ प्रमाण माननेको बाध्य हुआ। यही ऋषियोंके दर्शित अनुभूत उक्त वचन ही वेदकी श्रुतियाँ हैं। कहना न होगा कि यज्ञके मंत्र ऋषियोंके वचन के अन्तर्गत हैं।

(२) **छन्द**—छन्दका अर्थ है कम्पन या ताल (Vibration)। यह जगत प्राण और रयिके नृत्य, छन्द अथवा तालसे उत्पन्न हुआ है—यह सभी मानते हैं। शब्दरहस्य छन्दतत्त्वकी महिमा प्रचार करता है। ग्रीस देशका Music of the Sphere इस विषयमें चिन्तनीय है। वैज्ञानिक जगतमें सुविदित atoms (परमाणु) के विभिन्न प्रकार, आकृति, स्वभाव और धर्म छन्दतत्त्वकी महिमा प्रकाशित करते हैं। समस्त सृष्ट पदार्थ एक-एक छन्दका अनुवर्तन करनेको बाध्य हैं। ऋषियोंके उक्त मंत्रोंमें भी एक सुन्दर छन्दतत्त्व दृष्ट होता है। उन्हीं छन्दोंके अनुवर्तनसे मंत्रका साधन सिद्ध होता है। हमारा देहयंत्र भी छन्दकी तालमें विनिर्मित एवं चालित है। योगके ग्रन्थोंमें बताया गया है कि हमारे विभिन्न चक्र विभिन्न तत्त्व एक-एक विशिष्ट छन्दका अनुबर्तन करते हैं। हमारे देहस्थ इड़ा-पिंगला-सुषुम्ना, प्रत्येक स्नायु, मनकी प्रत्येक वृत्ति एक-एक विशिष्ट छन्दका अनुवर्तन करती हैं। नादानुसंधान तत्त्व, बौद्धोंका स्रोतापन्न रहस्य छन्दकी महिमा घोषित करता है। किस कार्यकी सिद्धिके लिए देह एवं मनके किस छन्दका अनुवर्तन करना होगा, साधनराज्यमें सिद्धि लाभ करनेके

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

लिए इस तत्त्वकी उपलब्धि विशेषतः आवश्यक है। व्याकारणके छन्दतत्त्वके साथ योगशास्त्रके छन्दरहस्यका सुन्दर सादृश्य है।

(३) **देवतातत्व**—यज्ञतत्वमें हम देखते हैं कि देवताओंके निमित्त द्रव्यकी आहुति देना यज्ञकी प्रधान क्रिया है। इसलिए यह समझ लेना आवश्यक है कि प्राचीन ऋषि देवतातत्त्वसे क्या रहस्य प्रचार कर गये हैं। असलमें देवता एक है—'एको देवः सर्वभूतेषु गूढ़ः', 'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति'। जो स्वरूपतः एक है अथच नाना रूपोंमें, नाना भावोंसे, जीवजगतमें लीलारत हैं। इसीलिए प्रकृतिके विभिन्न स्तरोंमें प्रतिबिम्बित भगवततत्त्वको नाना देवताओंके नामसे उल्लेख किया गया है। जैसे, पृथिवीके देवता कुबेर, जलके वरुण, अग्निके सूर्य, वायुके पवन, आकाशके यम, मनके चन्द्रमा, बुद्धिके विष्णु, अहंकारके रुद्र।

देवता शब्द 'दिव' धातुसे निष्पन्न है। 'दिव्' धातु प्रकाशात्मक, क्रियार्थक। जो प्रकाशित होते हैं, प्रकाशके माध्यमसे लीलारत हैं, वे ही देवता हैं। अर्थात् प्रकृतिके विभिन्न स्तरोंमें जो भगवत-शक्ति आत्मप्रकाश कर रही है और जीवजगतमें लीलारत है, वही देवता हैं। वेदके देवासुर तत्त्वमें भी देवतातत्त्वका एक सुन्दर परिचय मिलता है। कश्यपकी पत्नी अदिति (अखण्डनीया प्रकृति) की सन्तान देवता कहे गये हैं और कश्यपकी दूसरी पत्नी दिति (खण्डनीया प्रकृति) की सन्तान दैत्य अथवा असुर बताये गये हैं। दोनोंके मूल कश्यप हैं (कः पश्यतीति कश्यपः)। इसका तात्पर्य यह है कि जिनकी दृष्टि मूल एक तत्त्वकी ओर है, जो एकतत्त्वके अनुसरणकारी हैं, वे देवता हैं। और जो मूल एकतत्त्वको भूलकर पृथकत्वभाव, विद्वेष भाव स्थापित करनेमें सहायक हैं, वे दैत्य या असुर हैं। इसी भावका अवलम्बन कर शंकराचार्यने विशुद्ध सात्त्विक भावापन्न लोगोंको देवता कोटिमें और रज-तम द्वारा अभिभूत जीवोंको असुर कोटिमें रखा है। अन्यत्र देखनेमें आता है कि प्रायः सभी देवताओंका असुर पर्यायमें वर्णन किया गया है। वहाँ 'असुर' शब्दका अर्थ है—'असु' अथवा प्राण अर्थात् शक्तियुक्त। वहाँ देवताओंको विभिन्न स्तरोंमें विभक्त कर, ऊपरके स्तरकी तुलनामें नीचेके स्तरके अधिष्ठित देवताओंका असुर रूपमें वर्णन किया गया है। इस वर्णनमें सर्वोच्च स्तरके देवताको छोड़कर प्रायः सभी देवता

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal.

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

कुछ मात्रामें असुर भावापन्न है। शतपथ ब्राह्मणमें द्विविध देवताओंका उल्लेख है—दिव्य देव और मनुष्य देव। दिव्य देवताओंको आहुति द्वारा और मनुष्य देवताओंको दक्षिणा द्वारा तुष्ट करनेको कहा गया है। विशुद्ध सत्त्वगुण-सम्पन्न आदर्श ब्राह्मणका देवता स्थानीय रूपमें वर्णन अनेक जगह मिलता है।

पूर्व मीमांसामें देवताओंका कोई रूप नहीं है। चिन्तन-मननके विषयको (Object of thought, idea or concept) देवता कहा गया हैं। जो कुछ मनन-योग्य है, वही देवता है। देवताको जो नाम दिया गया, वही देवताका शरीर है। इस भावसे साधक अपने मनोभावके अनुकूल देवताकी कल्पना कर सकता है। तंत्रपंथी एकाधारमें दार्शनिक (Idealist) और साधक (Realist) हैं। उन्होंने प्रत्येक नामके साथ एक-एक रूप और रस मिलाकर देवताकी कल्पना की है एवं उस रूपके ध्यानकी भी व्यवस्था कर गये हैं। देवपूजक अपने-आपको इष्ट देवता से अभिन्न मानता है। अपने स्थूल एवं अन्तर्देहमें देवताके तत्तत अंगकी कल्पना करता है। देवताके उद्देश्यसे द्रव्य त्याग करने, आहुति देनेका नाम ही 'यज्ञ' है। यज्ञके माध्यमसे साधक भाव (idea) और भावमय देहकी (reality) लीला आस्वाद करता है एवं शारीरिक, मानसिक, आध्यात्मिक कर्मके द्वारा देवताकी देह-लाभ करनेका प्रयत्न करता है। इड़ा भक्षणसे स्थूल और सोमके व्यवहारसे देवताकी सूक्ष्म देह लाभ होती है। "He that eateth my Flesh and drinketh my Blood dwelleth in me and I in him"—Christ.

द्विविध देवता—वेदमें प्रत्येक देवताके दो रूप उल्लेख किये गये हैं। निम्नाधिकारीके लिए प्रकाश्य स्थूल रूप और उच्चाधिकारीके लिए सूक्ष्म गूढ़ रूप। स्थूलसे सूक्ष्म पदमें लेजाना ही यज्ञका, विशेषतः भावनात्मक यज्ञका, उद्देश्य है। देवगण द्विविध धन (बाह्यिक ऐश्वर्य और मुक्ति) के दाता हैं। सब देवता मूल शक्तिके विकास हैं। उनकी अपनी कोई शक्ति नहीं—वे मूल देवतासे शक्ति प्राप्त करते हैं। यहाँ केनोपनिषदकी कथा हेमवती उमाका अवतरण और उपदेश स्मरणीय है।*

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal.

देवताओं की संख्या—ऋग्वेदमें ३३ देवताओंका उल्लेख है—स्वर्गमें ११, पृथिवीमें ११, अन्तरिक्षमें ११। शतपथ ब्राह्मणके मतानुसार अष्टवसु

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

(पंचभूत, आदित्य, विद्युत, चन्द्रमा), एकादश रुद्र (पंच कर्मेन्द्रिय, पंच ज्ञानेन्द्रिय, मन), द्वादश आदित्य (बारह महीने) एवं द्यौ और पृथिवी मिलकर ३३ देवता हैं। ऐतरीय उपनिषद्में द्यौ और पृथिवीके स्थानमें प्रजापति और वषट्कारका उल्लेख है। जहाँ ३३ देवताओंका उल्लेख है, वहाँ बताया गया है कि प्रत्येक देवता कोटि-कोटि भाव में अनुभूत होते हैं। इसी आधार पर पुराणकारने देवताओंकी संख्या ३३ कोटि निर्देश की है। जिन्होंने प्रकृतिके तीन गुणोंकी ओर विशेष दृष्टि दी है, वे देवताको ब्रह्मा, विष्णु, शिव, इन तीन भागोंमें विभक्त करते हैं। सांख्य शास्त्रमें चौबीस तत्त्व माने गये हैं और उसी हिसाबसे देवताओंकी संख्या चौबीस निर्देश की गयी है। **सार बात यह है कि एकही भगवान प्रकृति, जगत एवं जीवदेहके विभिन्न तत्वोंमें प्रतिबिम्बित हुए विभिन्न देवताओंके नामसे वर्णित हैं।**

* [देवासुर संग्रामके समाप्त होजाने पर देवताओंमें झगड़ा होने लगा कि किस की शक्तिसे जीत हुई। सब देवता अपनी-अपनी शक्तिको जीतका कारण बताने लगे। जब मामला आपसमें तय न हो सका तो देवी हैमवती उमा वहाँ आविर्भूत हुईं और देवताओंसे झगड़ेका कारण पूछा। सब देवताओंकी बात सुननेके बाद देवीने अग्निसे पूछा "तुममें क्या शक्ति है?" अग्निने कहा "मैं समस्त ब्रह्माण्डको जलाकर भस्म कर सकता हूँ।" तब देवीने एक सूखा पत्ता हाथसे गिराया और अग्निसे कहा "इसे जलाओ तो"। अग्नि पूरी ताकत लगानेपर भी पत्तेको जला नहीं सका और लज्जित हो गया। इसके बाद देवीने वायुसे पूछा "तुममें क्या शक्ति है?" वायुने कहा "मैं समस्त विश्वको उड़ा लेजा सकता हूँ।" तब देवीने एक रुईका फाहा वायुके सामने फेंका और वायुसे कहा "इसे उड़ाओ तो।" वायु रुईको नहीं उड़ा सका और हार मान गया। तब देवीने वरुणसे पूछा "तुममें क्या शक्ति है?" वरुणने कहा "मैं पूरे जगतको बहा लेजा सकता हूँ।" तब देवीने एक मिट्टीका डला वरुणके सामने फेंका और कहा "इसे बहाओ तो।" वरुण बहुत चेष्टा करनेपर भी मिट्टीको नहीं बहा सका और पीछे हट गया। इस प्रकार देवीने एक-एक करके सब देवताओंकी परीक्षा की। जब सब देवता असफल होगये, तब देवीने कहा, "सुनो। समस्त शक्तिका आधार मैं हूँ। तुम्हारी कोई शक्ति नहीं। जबतक तुम लोग मेरे साथ युक्त रहोगे, तबतक तुम अपनी शक्तिका प्रयोग कर सकते हो। लेकिन अगर तुम अहंकारपूर्वक शक्तिको अपना मानोगे तो तुम कुछ नहीं कर सकते।" सब देवताओंने देवीको प्रणाम किया। देवी अन्तर्धान हो गयीं और देवताओंमें मेल हो गया।—अनुवादक]

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

देवताओंका एकत्व—ऋक्‌वेदका देवतातत्त्व और यज्ञतत्त्व हमारी अतुलनीय सम्पत्ति हैं। समस्त दार्शनिक तत्त्व, वैज्ञानिक तत्त्व, व्यावहारिक तत्त्व, संस्कारतत्त्व, एवं साधनतत्त्व इसमें अति सुन्दर रूपसे निहित हैं। जो आर्य ऋषियोंकी बहु ईश्वरवादी कहकर अवज्ञा करते हैं, उन्हें इसका आभास मिले तो वे अपनी अज्ञताका परिचय प्राप्त करेंगे। ध्यानमें रखना चाहिए कि हिन्दुओंके षड्दर्शन, गीता, उपनिषदादि वेदका ही आभास प्रदान करते हैं। वेदकी श्रुतियाँ किसी भावविशेष, सम्प्रदाय विशेष या साधन विशेषमें सीमाबद्ध नहीं हैं। उनमें साधारण दृष्टिसे परस्पर विरुद्ध भावोंका अपूर्व समन्वय ही दृष्टिगोचर होता है। वेदमें सृष्टिकी अतीत अवस्थामें एक अखण्ड अद्वय तत्त्व अति सुन्दर रूपसे सुरक्षित है एवं सृष्टिमें उसी एकका बहुत्व, असीमका ससीम भाव, निराकारका साकार रूप, गुणातीतका गुणोंके माध्यमसे आत्मप्रकाश अग्राह्य नहीं किया गया। मूलमें देवता एक है, किन्तु प्रकाशके भेदसे वे बहुरूप धारण किए हुए हैं। अंशवादमें भी प्रत्येक अंशको व्यापक कहा गया है। अंश होकर भी व्यापक होसकता है यद्यपि उसका व्यापकत्व तारतम्यानुसार निर्धारित होता है। यह अंश तारतम्यानुसार प्रतिबिम्बित होता है और प्रत्येक अंशमें पूर्णत्व बीजाकारमें वर्तमान है। देवता भी प्रतिबिम्ब हैं, लेकिन उनमें बिम्बका भाव इतना अधिक है कि उनमें बिम्बका एकत्व ओत-प्रोतरूपमें वर्तमान है। इसलिए सब देवता अधिक मात्रामें ब्रह्मभावसे परिभावित हैं। देवताओंमें भावगत, कार्यगत भेद होते हुए भी पारमार्थिक एकताका अभाव नहीं है। जो मायाके अतीत अवस्थामें एक हैं, वे ही मायायुक्त अवस्थामें बहु हैं। सभी देवता स्पन्दनात्मक हैं, एक मूल शक्तिकी अभिव्यक्ति हैं। सभी विश्वव्यापी एवं अपरिच्छिन्न हैं। कारण, दृष्टिसे सब एक हैं, लेकिन कार्यरूपमें अनन्त हैं। जो अन्तरिक्षमें विद्युत हैं, वे आकाशमें सूर्य हैं, वेही पृथ्वीपर अग्नि हैं। एक ही देवताका विभिन्न ऋषियोंने विभिन्न नामसे वर्णन किया है। जैसे, "तुम्हीं रुद्र हो, तुम्हीं सूर्य हो, तुम्हीं अग्नि हो, तुम्हीं अभीष्ट वर्षणकारी इन्द्र हो।" सभी देवता बलस्वरूप, ज्ञानस्वरूप, सर्वदा-जाग्रत, मंगलकारी एवं ऐश्वर्य और मुक्तिदान करनेमें समर्थ हैं। ऋग्वेदमें देवताओंकी चरम एकताकी ओर प्रधान लक्ष्य

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

हैं। प्रथम मण्डल ही अद्वैतवादको नींव है—वहाँ सब देवताओंको अग्नि कहा गया है। इसीलिए एक होनेकी प्रार्थना की गयी है—'संगच्छध्वं संवदध्वं....' (श्लोक १४३)। जो इन्द्र करते हैं, वही काम अग्नि अथवा सूर्यके द्वारा हो सकता है। वैज्ञानिक 'Transformation of Energy' इस एकत्वको समझनेमें सहायता करता है।

साधन-प्रणाली—देवतातत्त्वकी साधना द्वारा हम प्रतिबिम्बका अवलम्बन-कर मूल बिम्बके निकट पहुँचनेका, 'त्वं'-पदार्थका अवलम्बन कर 'तत्'-पदार्थको अनुभव करनेका, जीवजगतके माध्यमसे जगन्नाथको ढूंढ़ निकालनेका अपूर्व कौशल देखते हैं। योगियोंके अवलम्बनीय देहके विभिन्न केन्द्रोंमें, विभिन्न चक्रोंमें, विभिन्न देवताओंकी अवस्थिति एवं उपलब्धि देवतातत्त्व समझनेमें विशेषतः सहायक है।

देवताओंका मनुष्यरूपमें आरोप—देवताओंकी मनुष्यरूपमें कल्पना (Anthropomorphism) वेदोंमें भी मिलती है। जैसे, इन्द्रकी सुन्दर नासिका, शचीपतिका स्थूल पेट, हाथमें वज्र, रुद्र बलिष्ठ एवं सुवर्ण अलंकार विभूषित, वरुणकी सुन्दर मुखश्री, इत्यादि। वैदिक युगमें स्थूल मूर्तिको पूजा कदाचित ही होती थी, किन्तु साधकके मनमें समय-समय एक-एक सौन्दर्य-ऐश्वर्ययुक्त मूर्ति प्रस्फुटित होती थी, इसमें सन्देह नहीं। प्रत्येक प्राकृतिक दृश्य उनकी अन्तर्दृष्टिमें एक अधिष्ठात्री देवी या देवताको मूर्ति प्रकाशित करता था और उसी ऐश्वर्य-सौन्दर्ययुक्त विग्रहका अवलम्बन कर वे ध्यानमें समाहित हो जाते थे। सर्वव्यापी जब सर्वभूतमें अनुप्रविष्ट-अनुस्यूत हैं तो प्रत्येक अवयवको उनकी मूर्ति मानना-समझना अस्वाभाविक या असत्य नहीं। सुना जाता है कि प्राचीनकालमें आहुति द्वारा देवगण यज्ञभूमिमें अवतरण करते थे।

देवताओं का समाज—भगवानकी सृष्टिका प्रधान सौन्दर्य यह है कि जो-जो तत्त्व समस्त जगतमें हैं, वे सब प्रत्येक जीव-देहमें, प्रत्येक परमाणुमें हैं—"एके विज्ञाते सर्वं विज्ञातं भवति" (Know one atom and you will know the universe). पुरुषचैतन्य देवतारूपमें, शक्तिरूपमें, प्रकृतिके प्रत्येक स्तर और परिमाणमें विद्यमान हैं। मनुष्योंकी भाँति देवताओंमें भी कार्यविभाग की कल्पना की गयी है।

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

आरोग्यं भास्करादिच्छेद् धनमिच्छेत् हुताशनात् ।
ज्ञानं च शंकरादिच्छेत् मुक्तिमिच्छेत् जनार्दनात् ॥

देवताओंमें एक आदर्श शासन-तंत्र भी बताया गया है—जैसे इन्द्र राजा, वृहस्पति मंत्री, अग्नि सेनापति, वरुण व्यवस्थापक, कुबेर कोषाध्यक्ष इत्यादि। हमारी देहमें भी एक शासनतंत्रका आभास मिलता है—जैसे आत्मा राजा, वुद्धि मंत्री, इन्द्रियाँ कर्मचारी, शव्दस्पर्शात्मक देह साम्राज्य। देवताओंमें जाति-विभागका भी परिचय मिलता है। ऋग्वेदके पुरुषसूक्तसे हमें ज्ञात होता है कि एक असल देवता-पुरुषके विभिन्न अंगोंसे विभिन्न देवता उत्पन्न हुए हैं। पुरुष-चैतन्यके एक-एक अंगसे उत्पन्न होनेपर भी इन देवताओंमें सव अंगोंके भाव सूक्ष्म रूपमें वर्तमान हैं। ज्योतिष शास्त्रने देवताओंका वर्णन विभिन्न ग्रह-उपग्रह रूपमें किया है। एक-एक ग्रहमें एक-एक देवताका अधिष्ठान निर्देश किया गया है। मनुष्य देहके अंगोंमें भी अलग-अलग अधिष्ठित देवता हैं—जैसे आँखोंके देवता सूर्य, मनके देवता चन्द्र, बुद्धिके देवता विष्णु, इत्यादि। फिर प्रत्येक इन्द्रियमें, प्रत्येक इन्द्रिय-अधिष्ठित देवतामें, सब देवताओंका चैतन्य गूढ़ रूपमें अवस्थित है। उत्तम पुरुषमें यह चैतन्य पूर्णतः विकसित होता है। "अंगानि यस्य सकलेन्द्रिय-वृत्तिमन्ति"। श्रीकृष्णकी प्रत्येक इन्द्रियमें सव इन्द्रियोंकी शक्तियाँ पूर्णरूपेण विकसित थीं। सार बात यह है कि प्रत्येक परमाणुमें जो पूर्णशक्ति गूढ़रूपमें वर्तमान है, क्रियाशक्तिके प्रभावसे उस शक्तिको पूर्णरूपेण विकसित किया जा सकता है। इसका साधन कुण्डलिनी जाग्रत करनेकी प्रणालीके अन्तर्गत है। Every neutral body contains infinite amount of positive and negative energy in latent form and by friction or chemical process that latent energy can be made patent—यह विज्ञान-सम्मत है।

(४) **विनियोग**—किस उद्देश्यकी सिद्धिके लिए किस प्रकारकी साधना अथवा अनुष्ठान-विधि अवलम्बनीय है, किस इच्छाको सफल करनेके लिए क्या कार्य करना चाहिए, किस कर्मसे क्या फल मिलेगा, यह सब विषय विनियोगके अन्तर्गत हैं। इच्छाशक्ति, ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति—इन तीन शक्तियोंकी

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

महिमा यहाँ विशेषतः चिन्तनीय है। इच्छाशक्ति द्वारा लक्ष्य निर्धारित होता है; ज्ञानशक्तिसे लक्ष्यतक पहुँचनेका पथ ठीक किया जाता है। इसके बाद इच्छाशक्ति और ज्ञानशक्तिको कार्यरूप देकर (Application of the method) फल लाभ करना 'विनियोग' तत्त्व है। समस्त कर्मरहस्य विनियोगके अन्तर्गत हैं। क्या कार्य करनेसे सिद्धि लाभ होगी, पहले इस विषयका ज्ञान प्राप्त करना होगा। इसके बाद जानना होगा कि किस प्रणालीसे कार्य करनेसे सिद्धि लाभ होगी। इसके बाद समझना होगा कि देहके किस-किस केन्द्रमें अधिष्ठित शक्ति उस कार्यके लिए आवश्यक है। यह सब बातें ठीक करके जिस कार्यमें शक्तिका प्रयोग किया जायगा तो उस कार्यमें सिद्धि लाभ करना सहज होगा—इसमें सन्देह नहीं हो सकता।

●

मन्त्र-तन्त्र-यन्त्र रहस्य

मंत्र—जिसके मननसे त्राण प्राप्त होता है, कोई निर्दिष्ट उद्देश्य सफल किया जाता है, उसका नाम मंत्र है। मन्त्र शुद्धतम नाम है—ठीक भावसे उच्चारित हो तो देवलोक ही नहीं, आत्मलोक तक प्रसारित होता है।

वाचि मंत्राः स्थिताः सर्वे वाच्यं मंत्रे प्रतिष्ठितम्।
मन्त्ररूपात्मकं विश्वं स बाह्याभ्यन्तरं ततः॥

मनुष्योंका ज्ञान, वाणी, व्यवहार सब अनियन्त्रित है, इसलिए फलदायक नहीं होते। देवताओंके ये सब नियन्त्रित हैं, इसलिए अमोघ हैं। वेदमंत्र ठीकसे उच्चारित हो तो यजमानकी ग्रन्थिका उन्मोचन, भावका आविर्भाव, देवताका आगमन स्वाभाविक हो जाता है। अधिकारी और लक्ष्यके भेदानुसार मन्त्रोंमें भी भेद पाया जाता है। किस कार्यका क्या उद्देश्य है, किस प्रणालीसे वह उद्देश्य साधित हो सकता है, साधित होनेपर क्या फल प्राप्त होगा, यह सब रहस्य मन्त्रतत्त्वमें निहित हैं। हमारा सबका जीवन एक अलग-अलग मन्त्रका

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

परिणाम है। जैसे एक छोटेसे बीजमें पूरा वृक्ष सूक्ष्म रूपमें निहित है, उसी प्रकार हमारे जीवनके सब रहस्य बीजरूपमें एक-एक मन्त्रमें निहित हैं। उस मन्त्रके साथ हमारी उत्पत्तिका, बीजतत्त्वका घनिष्ठ संबन्व है। मंत्र बीजात्मक है। जिसने जिस बीजसे जन्म ग्रहण किया है, उस बीजमें भगवानकी क्या इच्छा वर्तमान है, वह इच्छा कितनी विकसित हुई है, इस तत्वकी उपलब्धि कर उसका मंत्र निर्धारित होना चाहिए। उसके जीवनकी समस्त संभावनाएं भूत-भविष्य-वर्तमान उस मंत्रमें निहित है। अर्थात् वह क्यों आया है, क्या करने आया है, किस तरीकेसे उसका जीवन चालित हो तो वह उद्देश्य सफल होगा, यह सब तत्त्व उक्त मंत्रमें निहित हैं। उस मंत्रका दीक्षा रूपमें श्रवण, सावना रूपमें मनन, और उस मंत्रमें तन्मयता-प्राप्त करनेके रूपमें निदिध्यासन उसके जीवनका लक्ष्य होगा। प्रत्येक मंत्रमें व्याहृति, बीज और देवता, यह तीन तत्त्व होते हैं। ॐ काररूप व्याहृति उच्चारण कर, अकार-उकार-मकार भेदकर अर्धमात्रामें, मूलाधारसे सहस्रारमें (भगवद्धाममें) जाना होगा। वहाँ पहुँचकर धामतत्व, स्वरूप-तत्त्व एवं भगवत्तत्त्वकी उपलब्धि होगी। वहाँ जाकर साधकको समझ लेना होगा कि भगवानने किस उद्देश्यसे, क्या काम करनेके लिए, उसके भीतर कौन-सा बीज निहित रखा है। इसके बाद उस बीजके सिद्धि-प्राप्त देवताकी सहायतासे, अपने सब तत्त्व भगवत-भावसे पूर्ण कर, स्वयं देवमय होकर नीचे उतर आना, उस मंत्रकी साधना है। एकाक्षर मंत्रमें भी ये तीनों तत्त्व रहते हैं।

तंत्र—वेदके अभ्रान्त सत्य सावना द्वारा किसी प्रकार सुस्पष्ट रूपमें उपलब्ध हो सकते हैं—यह तंत्रशास्त्रका विषय है। जो वैदिक मंत्र लाभकर साधना द्वारा उसे प्रत्यक्षीभूत नहीं करते; उनके लिए सिद्धि-लाभ केवल एक काल्पनिक पदार्थ, आकाश-कुसुमके समान है। साधनाके बिना हम बातोंमें पण्डित, भावमें नास्तिक, कार्य-व्यवहारमें पिशाच हो जाते हैं। इस प्रकारके अनेक शुष्क वेदान्तियों एवं काल्पनिक संन्यासियोंसे समाजकी नाना प्रकारसे क्षति हो रही है। जो सत्य मंत्रमें निहित है, उसे मनन द्वारा बोधगम्य करना होगा एवं समाधि द्वारा उसे प्रत्यक्ष कर अपने जीवनको सत्यमय बनाना होगा। तंत्रशास्त्र हमें बताता है कि किस प्रणालीसे हम श्रुत सत्यको प्रत्यक्षीभूत कर सकते हैं अर्थात् अपने जीवनको मंत्रमय बना सकते हैं।

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

यंत्र—समष्टि रूपमें समस्त जगत और व्यष्टि रूपमें जीवकी देह साधनाके अवलम्बनीय यंत्र हैं। मंत्र साधनाके लिए देह यंत्रका ज्ञान आवश्यक है। प्राचीन ऋषिगण आविष्कार कर गये हैं कि हमारे देहतत्त्वके प्रधान रहस्य मस्तिष्कमें और मेरुदण्डके विभिन्न केन्द्रोंमें निहित हैं। हमारी देहमें असंख्य स्नायुकेन्द्र हैं और इनमेंसे कुछ निर्दिष्ट केन्द्रोंमें विचित्र शक्ति निहित है। साधना द्वारा इस शक्तिको पूर्णतः विकसित एवं कार्यकरी किया जा सकता है। हमारे चक्षुके केन्द्रमें (Optic Centre) समस्त दृष्टि विज्ञान, श्रवणकेन्द्रमें शब्दरहस्य निहित है—यह सब माननेको बाध्य है। हमारे ज्ञानकेन्द्रोंको विज्ञान शास्त्रने (modern science) बोधकेन्द्र (Sensory Nerve Centres) और कार्यकारी केन्द्र (Motor Nerve Centres) नाम दिये हैं। प्राचीन ऋषिगण पृथक्-पृथक् अनुभूति और कार्यकलापके लिए विभिन्न केन्द्र निर्दिष्ट कर गये हैं। प्रत्येक केन्द्रमें असीम शक्ति सुप्त रूपमें विद्यमान है और इस शक्ति को जाग्रत किया जा सकता है—यही ऋषियोंका कुलकुण्डलिनी तत्त्व है। देहके किस केन्द्रमें मन स्थिर कर, किस प्रणाली द्वारा साधन कर, केन्द्रकी निहित शक्तिको पूर्णतः विकसित एवं कार्यकरी किया जा सकता है—यह योगियोंके षट्चक्रभेदके अन्तर्गत हैं। विभिन्न उद्देश्य सिद्ध करनेके लिए विभिन्न केन्द्रोंमें मन स्थिर करना होगा। भगवद्दर्शन करनेके लिए दर्शनेन्द्रियको (Optic Centre) पूर्ण विकसित कर दिव्यदृष्टि लाभ करनी होगी। भगवदवाणी सुनने के लिए दिव्य श्रवण लाभ करना होगा। यज्ञतत्त्वमें यंत्रतत्त्वका विशेष स्थान है। पंचाग्नि विद्याकी पाँच अग्नियोंके स्थान देहस्थ पाँच प्रधान केन्द्र हैं। मूलाधार, मणिपुर, अनाहत, विशुद्धाख्य और आज्ञाचक्र—ये देहमें अवस्थित पाँच स्नायुकेन्द्र ही, यज्ञमें वर्णित पाँच कुण्डोंमें अवस्थित भर्गोदेव ही, यज्ञकी पंचाग्निके नामान्तर मात्र हैं। इन अग्निकुण्डोंका भीतर स्नायुकेंद्रमें परिचय प्राप्त न होनेके कारण हम प्रतीक रूपमें बाहरके यज्ञकुण्ड व्यवहार करते हैं। यज्ञके मंत्रोंमें इसका सुन्दर आभास मिलता है।

सारांश—मंत्र-रहस्यसे हम भगवतत्त्व, स्वरूपतत्त्व, जीवसे शिवका सम्बन्ध-एवं जीवके शिवत्व-प्राप्तिके उपायसे अवगत होते हैं। साधनतत्त्व, यंत्रतत्त्वसे

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

हमें भगवत्-प्राप्तिकी साधन-प्रणाली ज्ञात होती है। यंत्रतत्त्वकी सहायतासे हम देहस्थ विभिन्न केन्द्रोंमें भगवत्-शक्तिको जागरित कर, भगवत्-प्रतिबिम्बरूप देवताका साक्षात्कार कर भगवद्दर्शन, भगवदुपलिब्ध, भगवानसे तन्मयता लाभ करनेकी योग्यता प्राप्त करते हैं।

यज्ञका तात्पर्य

कर्म मात्र ही यज्ञ हैं, लेकिन वह कर्म शिवका कर्म है। उस कर्ममें आसक्ति नहीं है, फलाकांक्षा नहीं है, वह कर्म 'आनन्दप्राचुर्यात्'—स्वभावसे होता है। जीव ब्रह्मका परिणाम या विवर्तन है। इसलिए जीवमें परिणाम या विवर्तन-जनित कुछ विकृति आ ही जाती है, जो जीवको शिवसे पृथक् करा देती है—'तत' पदार्थ और 'त्वं' पदार्थके वीच एक काल्पनिक भेद पैदा कर देती है। यह भेद द्रष्टाकी दृष्टिमें नहीं है, लेकिन बद्ध जीवकी दृष्टिमें है। इस भेदकी व्यावहारिक सत्ताको अस्वीकार नहीं किया जा सकता। जीवसाधना द्वारा यह काल्पनिक भेद दूर कर शिवत्वमें प्रतिष्ठित हो सकता है। तब जीव और शिवके वीचका भेदभाव अनुभूत नहीं होता। तब 'त्वं' पदार्थ 'तत' पदार्थमें पर्यवसित हो जाता है। समस्त साधन-भजनका उद्देश्य यही है कि आगन्तुक मलिनताको दूरकर 'त्वं' पदार्थको 'तत्' पदार्थमें प्रतिष्ठित कर देना। 'त्वं' पदार्थ शुद्ध होकर कितनी मात्रामें 'तत्' पदार्थका सादृश्य प्राप्त करता है—यह विचार दार्शनिकोंके हाथमें रहना ही ठीक है। पण्डितगण विचार करके देखें कि पूर्ण-रूपेण आत्मनिवेदन हो जानेपर, 'त्वं' और 'तत्' के बीच पार्थक्य रहता है या नहीं—इस विषयमें मतभेद है। किन्तु हमारे लिए इतना ही यथेष्ट है कि जीव-भावापन्न 'त्वं' को शुद्ध करके 'तत्' के यन्त्ररूपमें परिणत करना, अर्थात् अपने मन-बुद्धि-इन्द्रियादिको शुद्ध करके भगवानकी इच्छा पूर्णरूपेण सफल करनेकी चेष्टा करना। यह अवस्था प्राप्त हो जानेपर जीवका कर्म शिवका कर्म हो जाएगा। तब शिव जीवके माध्यमसे आत्मप्रकाश करेंगे। साधनाके फलस्वरूप

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

ऐंसी अवस्था आ जाती है कि साधकके नेत्रोंमें दूरदर्शन, सूक्ष्मदर्शन, दिव्यदर्शन, कानोंमें दूरश्रवण, सूक्ष्मश्रवण, दिव्यश्रवणकी शक्ति आविर्भूत हो जाती है। तब सर्वत्र ब्रह्मदर्शन होता है । सब शब्दोंमें शब्दका परातत्त्व हृदयंगम होता है। मन-बुद्धि-अहंकार अप्राकृत भाव लाभ कर भगवत-ध्यान, भगवत्उपलब्धिमें विभोर हो जाते हैं। तब हमारी देहके सब तत्व भगवानके हाथके यन्त्र हो जाते हैं और भगवान यन्त्री रूपमें अधिष्ठित हुए इन्हें अपनी लीलामें सहायक बना लेते हैं। ऋषिगण यह कौशल जानते थे। वे यज्ञके द्वारा साधनतत्वको स्फुटतर करनेकी चेष्टा कर गये हैं ।

जब शिवका कर्म ही यज्ञ है तो जिस कौशलसे जीवके कर्मको शिवके कर्ममें परिणत किया जाता है, उसीका नाम 'यज्ञ' या 'योग' है। गीताका 'योगः कर्मसु कौशलम्' रहस्य यहाँ चिन्तनीय है। संसारमें तीन प्रकारके लोग देखनेमें आते हैं। एक प्रकारके लोग तो अभाव पूर्ण करनेके लिए कर्म करनेमें, कर्ममें आसक्त हो जाते हैं एवं कर्मके बन्धनमें फँस जाते हैं। दूसरे प्रकारके लोग कर्मके, संसारके, स्वरूपको न जाननेके कारण, कर्मबन्धनके भयसे कर्मसे वृथा दूर रहनेकी चेष्टा करते हैं। वे नहीं समझते कि देहको धारण करनेके लिए किसी न किसी रूपमें कर्म करना ही पड़ेगा। शास्त्रमें जिस संसारको त्याग करनेका उपदेश दिया गया है, वह कामना-वासना-आसक्तिका संसार है, भगवत् सृष्ट जगत नही। "वासना एवं संसारः"। "यत्र यत्र भवेत् तृष्णा संसारं विद्धि तत्तदा"। तीसरे प्रकारके बुद्धिमान लोग राजर्षि जनककी भाँति, अनासक्त फलाकांक्षा-रहित होकर, भगवदिच्छा पूर्ण करनेके लिए, लोकसंग्रहके निमित्त, स्वभावसे कर्म करते रहते हैं। इसी प्रकारके लोगोंको योगी, प्रकृत याज्ञिक कहा जाता है। ऐसे लोग भगवानका उद्देश्य समझ कर, अपना अहंकार, सुखस्पृहा, कामना-वासना आदि त्याग कर, किस प्रकार जीवके कर्मको शिवके कर्ममें परिणत किया जाता है, यह रहस्य अपने कार्य-कौशल द्वारा जगतमें प्रचार कर, जीवको स्वभावमें प्रतिष्ठित करनेकी चेष्टा करते हैं। स्वभावमें, आत्मभावमें, भगवत-भावमें, भगवदनुमोदित पथमें ले जानेवाला कर्म ही शिवका कर्म कहलाने योग्य है। यही जीवकी साधना है।

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

इससे यह समझ लेना चाहिए कि कर्मकी समस्त विकृति दूर कर; अभावात्मक कर्मको स्वभावात्मक कर्ममें, बन्धनात्मक कर्मको मुक्तिके अनुकूल कर्ममें, भगवत्-तृप्तिके लिए, भगवानकी लीलामें सहायक होनेके लिए जो कुछ भी चिन्ता, चेष्टा, भावना, कार्यकलाप किया जाय, उसका साधारण नाम 'यज्ञ' है। यज्ञके क्रिया-बहुल बाह्य अनुष्ठान-प्रधान कर्मको 'द्रव्यात्मक', मानसिक विचार-प्रधान ध्यानमूलक कर्मको 'भावनात्मक', ज्ञानप्रधान स्वरूपानुसन्धानमूलक अनुष्ठानको 'केवलात्मक' यज्ञ कहा गया है। सब यज्ञोंका लक्ष्य है—जीवके कर्मको शिवके कर्ममें पर्यवसित करना। यज्ञके संबन्धमें विधिमत विचार करनेसे समझ-में आयेगा कि हमारी इस यज्ञकी व्याख्यामें कोई नया रहस्य उद्‌घाटित नहीं किया गया है। अन्य सब अनुष्ठानोंकी भाँति यज्ञानुष्ठानमें भी बहुत विकृति आ गयी है। इस आगन्तुक विकृतिको दूर कर, वैदिक युगकी आर्यजातिके सर्व-श्रेष्ठ अनुष्ठानरूप यज्ञके प्रकृत तत्त्वको स्फुटित करना होगा।

"यज्ञो वै विष्णुरिति"—यज्ञ शब्द का अर्थ ही है—भगवान विष्णु। अर्थात् विष्णु का अर्थ क्या है, उनकी कार्यप्रणाली कैसी है, उनके कर्मका उद्देश्य क्या है, उन्हें कैसे जाना, पाया जा सकता है—यह सब यज्ञतत्त्वके अन्तर्गत है। 'विश्' धातुका अर्थ है अनुप्रवेश। जो जगतकी सृष्टि करके उसके प्रत्येक तत्त्वमें अनुप्रवेश कर गये एवं जगतकी सृष्टि-स्थिति-लय कार्य कर रहे हैं, वे ही विष्णु हैं। अन्यत्र कहा गया है—"व्याप्नोति विश्वमिति विष्णुः"—जो सर्वव्यापी हैं, वे ही विष्णु हैं। जो जीवजगतमें रहते हुए जीवजगतकी पूर्णोन्नतिमें सहायक हैं, वे ही विष्णु हैं। यज्ञ शब्दका अर्थ अगर विष्णु हो तो जिस कर्मके द्वारा जीवजगत पूर्णता प्राप्त कर सकता है, भगवानको जान सकता, पहचान सकता, प्राप्त कर सकता है—उसीका नाम 'यज्ञ' है। विष्णुको जाना जायगा, उनका कार्य देख-कर। अर्थात् जिस कार्यके द्वारा वे आत्मप्रकाश करते हैं। इसीलिए यज्ञ को भगवानका कार्य कहा गया है। भगवानके कार्यका ध्यान करके, उनके कर्मका उद्देश्य जान कर, उनके कार्यके अनुकूल कार्य करना, उनके कार्यमें सहायक होनेकी चेष्टा करनेका नाम ही 'यज्ञ' है। यज्ञ भगवानका स्वरूप, भगवानकी मूर्ति है।

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

यज्ञ क्या है ?

यज्ञ—सृष्टि आदि व्यापारमें आनन्द आस्वाद करने और करानेके लिए देवताका आत्मदान एवं देवताके निमित्त जीवका द्रव्य और भाव दान। अतएव यज्ञके दो स्वरूप हैं—'पुरुषमेध' और 'नरमेध'। 'तत्' पदार्थकी 'त्वं' रूपमें सृष्टि परिणति या विवर्तन 'पुरुषमेध' यज्ञ है और 'त्वं' पदार्थका 'तत्' रूपमें प्रत्यावर्तन 'नरमेध' यज्ञ है। 'तत्' और 'त्वं' की, पुरुष और प्रकृतिकी, प्राण और रयिकी, अन्नाद और अन्नकी, spirit और matter की लीला ही यज्ञतत्त्व है। यह सृष्टि-स्थिति-लयात्मक है। सिद्धका यज्ञ केवलात्मक हैं—सर्वत्र ब्रह्मानुभूति। साधकका यज्ञ भावनात्मक है—अपने और जगतके प्रत्येक तत्त्वमें ब्रह्मकी भावना और लीला अनुभव करना। प्रवर्तकका यज्ञ द्रव्यात्मक हैं—स्थूल देह और स्थूल पदार्थकी सहायतासे चित्तको शुद्ध करना। त्रिविध देहको शुद्ध और संस्कारवर्जित करने, भगवत-भावसे पूर्ण करने, भगवत-शक्तिसे युक्त करने, भगवल्लीला दर्शन करने, भगवल्लीलामें सहायक होनेके अनुकूल सब अनुष्ठान 'यज्ञ' नामसे परिचित हैं। अब देखा जाय कि यज्ञके संबन्धमें शास्त्र क्या कहते हैं।

(१) **यज्ञ भगवान स्वयं**—"यज्ञो वै विष्णुरिति," "यजति विद्वद्भिरिज्यते वा स यज्ञः परमेश्वरः।" जो सब पदार्थ संयोग करते हैं और जो सब विद्वानोंके पूज्य हैं, वे सर्वव्यापी परमात्मा ही यज्ञ हैं। जगतके सब तत्त्वोंमें, सब कर्मोमें भगवदुपलब्धि, सब विभक्तियोंमें, कर्मके सब अंगोंमें, सब क्रियाओंमें ब्रह्मतत्त्वकी उपलब्धि करना यज्ञ है। यहाँ 'ब्रह्मार्पणं ब्रह्महविः—' (गीता ४।२४) मंत्र अनुभवनीय है। अग्निमें, हविमें, होतामें ब्रह्म-दर्शन करना होगा। सब रूपोंमें, सब तत्त्वोंमें, सब कार्योंमें यज्ञकी भावना करनेका उपदेश महाभारतमें भी दृष्ट होता है। "यज्ञो यज्ञपतिः यज्ञी यज्ञाङ्गो यज्ञवाहनः। यज्ञभृत् यज्ञकृत् यज्ञी यज्ञभुक् यज्ञसाधनः।" यज्ञका अर्थ ही है विष्णु। जीवजगत भगवानकी मूर्ति है। जीवजगतका अवलम्बन कर जीवकी सेवा द्वारा भगवानकी आराधना करना यज्ञ है। भगवान स्वयं यज्ञेश्वर, अधियज्ञ, यज्ञके आत्मा हैं।

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

(२) **यज्ञ वैदिक ऋषियोंका प्रधान अनुष्ठान**—अतिवृष्टि, अनावृष्टि, युद्धविवाद, महामारी, इत्यादिसे जीवकी रक्षा करनेके लिए, संघबद्ध होकर, जो भी कर्म किये जाते थे, उनका साधारण नाम 'यज्ञ' था। इस यज्ञके फलस्वरूप सब संघबद्ध होकर देशमें शान्ति स्थापित करते थे। यज्ञका अनुष्ठान, यज्ञके मंत्र, यज्ञका हविःशेष-भक्षण एकताके साधक थे। यज्ञ जनताकी सुप्त शक्तिको जागरित कर, सबके सद्‌गुणोंको एकत्रित कर, लोगोंको देशका प्रकृत कल्याण करनेमें समर्थ करता था। जो कर्म अहंकार, स्वार्थ एवं तज्जनित भेदभाव दूर कर, व्यष्टि भावको समष्टि भावमें लीन कर, जीवको संघबद्ध कर, अद्वैत तत्त्व आस्वाद करनेकी योग्यता दान करे, उसीका साधारण नाम 'यज्ञ' था।

(३) **यज्ञ कर्मका कौशल है**—"योगः कर्मसु कौशलम्"—गीता २।५० कर्मसे सृष्टि हुई है, कर्म द्वारा जगच्चक्र चालित है। इसलिए अन्ततः देहकी रक्षाके लिए कर्म करना ही होगा। जब कर्मके प्रकृत स्वरूपको भूलकर, कर्मको वन्धनका कारण मानकर, ज्ञानियोंकी संन्यास लेनेकी प्रवृत्ति बढ़ी, तब यज्ञतत्त्वने कर्मका प्रकृतस्वरूप समझकर, अनासक्त फलाकांक्षा-रहित होकर यज्ञार्थ कर्म करनेसे कर्म बन्धनका कारण नहीं, बल्कि मुक्तिका, भगवतप्राप्तिका, कारण होता है, जीवको यह रहस्य समझाकर संसारका प्रचुर कल्याण किया। "यज्ञार्थात् कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः" (गीता ३।९)। यज्ञ सकाम कर्मको निष्काम कर्ममें, बन्धनात्मक कर्मको मुक्तिके सहायक कर्ममें, नीरस कर्मको रसयुक्त कर्ममें, श्रेयको एकाधारमें, श्रेय एवं प्रेय बनानेमें, जीवके कर्मको शिवके कर्ममें परिणत करनेका अपूर्व कौशल बताता है। संसारमें रहूँगा, लेकिन आबद्ध नहीं होऊँगा ("पद्मपत्रमिवाम्भसा")। 'अनासक्त-अनुरागी' होनेका रहस्य हम यज्ञतत्त्वसे सीखते हैं। यज्ञ मनुष्यको प्रियतमाकी भाँति धीरे-धीरे अज्ञात रूपसे द्रव्यात्मक यज्ञसे भावनात्मक यज्ञमें और तत्पश्चात ज्ञानात्मक भूमिमें ले जाता है। यज्ञ भोगके भीतरसे त्यागमें, सकाम कर्मके भीतरसे निष्काम कर्ममें, संसारके माध्यमसे भगवद्धाममें जानेका अपूर्व कौशल है। यज्ञ मनुष्यको अपने सुखका लोभ दिखाकर, अपना सुख सबके सुखके साथ जुड़ा हुआ है—यह धीरे-धीरे समझाकर, जीवको सबका कल्याण करनेमें लुब्ध करता है। यज्ञमें स्वार्थ-परार्थका अपूर्व समन्वय है।

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

(४) **यज्ञ ऋणशोधात्मक कर्म है**—त्याग (Sacrifice), भगवानने सर्व प्रथम अपने-आपको उत्सर्ग कर यज्ञ आरम्भ किया (पुरुषमेध यज्ञ)। इसीलिए सर्वत्र त्यागका व्यापार देखनेमें आता है। त्यागके बिना समाज या जगत चल ही नहीं सकता। आज त्यागकी महिमा भूल जानेके कारण ही जगतमें इतनी अशान्ति है। हम सब जीवोंके, सब भूतोंके, सब देवताओंके, पशु-पक्षी कीट-पतंगोंके ऋणी हैं। सबसे ऋण लेकर उनके लिए कुछ न करें तो हमें चोर कहा जा सकता है। द्रव्यात्मक और भावनात्मक यज्ञ द्वारा हमें ऋण-शोध करनेका सुयोग मिलता है। प्राचीन हिन्दुओंके नित्य अनुष्ठेय पंचमहायज्ञमें यह ऋण-शोध करनेकी व्यवस्था थी। निःस्वार्थ भावसे सब जीवोंकी सेवा करना, 'सर्वभूतहितेरत' रहना, हिन्दुओंका प्रधान यज्ञ था। जीव वेष धारण किया हुआ शिव है। जीवकी सेवा ही शिवकी सेवा है। सब जीवोंके भीतरसे सर्वव्यापी भगवानका दर्शन, ध्यान और सेवा ही हिन्दुओंकी प्रधान साधना थी। सब अनुष्ठानोंमें पहले स्वस्तिवाचन पाठ किया जाता था। एक जीवका ऋण बाकी रहते हुए भी भगवदधाममें प्रवेश नहीं किया जा सकता। इसलिए वहाँ जानेके लिए, सेवा और कल्याणकी प्रार्थना द्वारा सबको सन्तुष्ट कर सबके मुखसे 'सु+अस्तु' (यह कार्य सफल हो), 'अयमारम्भा शुभाय भवतु' (इस अनुष्ठानसे सबका कल्याण हो), यह वाणी सुनकर, सबका आशीर्वाद लेकर, शुभकार्य आरम्भ किये जाते थे। **हिन्दूशास्त्रमें अकृतज्ञता महापाप है।**

(५) **कर्ममात्र ही यज्ञ है**—इसका अर्थ यह है कि वैदिक ऋषियोंने उपलब्धि की थी कि सब कार्योंको पूजामें, यज्ञमें परिणत किया जा सकता है। सम्पूर्ण जगतको नन्दन वनमें, समस्त वाक्योंको वेदमें, सब भावोंको उपासनामें परिणत करनेकी चेष्टा करना ही उनके जीवनका लक्ष्य था। वे विश्वास करते थे कि 'इदं' रूपमें प्रतीयमान सब पदार्थ और तत्त्व ब्रह्मके परिणाम या विवर्तन हैं और साधना द्वारा ये सब ब्रह्ममें जाकर पर्यवसित हो जाते हैं—'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'। वे सब कर्मोंको इस प्रकार करनेका उपदेश देते थे कि जिससे सब कर्म यज्ञमें, पूजामें, साधनामें, उपासनामें परिणत हो जायँ। व्यापक अर्थमें सब कर्म यज्ञ हैं। संकीर्ण अर्थमें देवताके निमित्त विधिपूर्वक हवनीय द्रव्यका त्याग करना

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

आहुति देना यज्ञ है। कर्म द्विविध हैं—भगवानका कर्म (पुरुषमेध यज्ञ), जीवका कर्म (नरमेध यज्ञ)। भगवानका कर्म सृष्टि-स्थिति-आत्मक है, जीवका कर्म लयात्मक है। ये दोनों कर्म यज्ञकाण्डके अन्तर्गत हैं। भगवानका अपनेको स्वयं आस्वाद करने एवं अपने प्रिय जीवोंको आस्वाद करानेके लिए, जीवजगत रूपमें परिणति या विवर्तन, आत्मविस्मृतिका भान, आत्मदान, अभिनय, आँख मिचौनीका खेल या लीला—एवं जीवका चित्तको शुद्ध और शान्त कर, भगवान-का रहस्य भेदकर, सर्वत्र उनकी अनुभूति लाभ करना, उनकी लीलामें सहायक होना—यही सृष्टि-स्थिति-लयका रहस्य है। इसीका नाम यज्ञतत्व है। "सह-यज्ञा प्रजा सृष्ट्वा" (गीता ३।१०) बहुत ही युक्तिसंगत है। 'यज्ञ' शक्तिका सातत्य (Conservation of Energy and persistence of Force) है। 'यज्ञ' विमर्ष शक्तिका आकुंचन और प्रसारण, देवताका नृत्य, है। 'यज्ञ' छन्दतत्त्व है। 'यज्ञ' भगवत-क्रियाशक्तिका अव्यक्तावस्थासे (Potential state) व्यक्ता-में (Kinetic state) आगमन है, और फिर अव्यक्त अवस्थामें प्रत्यागमन है। 'यज्ञ' कर्मचक्र, धर्मचक्र, जगच्चक्रका अनुवर्तन है।

(६) **यज्ञ लीलाविशेष है**—प्राण और रयिकी, अग्नि और सोमकी, अन्नाद और अन्नकी, शक्ति और शक्तिमानकी, शिव-शक्ति, कृष्ण-राधा, राम-सीताकी लीलाविशेष 'यज्ञ' है। ब्रह्मका जीवरूपमें, पिताका पुत्ररूपमें, 'एक' का बहुरूपमें, अविभक्तका विभक्त रूपमें, असीमका ससीम रूपमें, 'तत्' का 'त्वं' रूपमें, परिणति या विवर्तन 'पुरुषमेध यज्ञ' है। जीवका शिवत्व प्राप्त करना, पुत्रका पितामें लीन होजाना, बहुकी एक-रूपमें, 'त्वं' की 'तत्' रूपमें, पुनरुप-लब्धि (Paradise Regained) 'नरमेध यज्ञ' है। यह उभयात्मक लीला-अभिनय यज्ञतत्त्वके अन्तर्गत है। इस लीलामें जीवका अपना कर्तृत्व, भोक्तृत्व, अभिमान त्याग कर, स्वयं स्वरूप-प्रतिष्ठ होकर, भगवतलीला दर्शन करनेका नाम ही भावनात्मक यज्ञ है। इस विषयका विस्तृत विवेचन 'पुरुषमेध और नरमेध यज्ञ' के प्रकरणमें देखिये। भगवान हमारे बाहर और भीतर बैठे हमारे लिए क्या कर रहे हैं, इस तत्वकी उपलब्धि भावनात्मक यज्ञका कार्य है। यह अभिनय क्रियात्मक है। इसलिए जीव कर्म करनेको बाध्य है। यह लीला त्यागात्मक होनेके कारण यज्ञ भी त्यागप्रधान है।

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

'यज्ञ' द्वैत-अद्वैतका खेल है। एक तरफ ब्रह्मकी सृष्टि करनेकी इच्छा और बहुरूपमें आत्म-प्रकाश—दूसरे तरफ जीवका मुमुक्षुत्व प्राप्त करना अर्थात् द्वैतभावको विलुप्त कर ऐक्य साधन करनेकी चेष्टा। यही जीव और ब्रह्मके रसका खेल है, यही 'दोल लीला' अथवा 'झूलन यात्रा' है। इसका न आदि है, न अन्त।

'यज्ञ' असीमकी ससीम रूपमें लीला है एवं पुनः असीममें प्रत्यावर्तन।

'यज्ञ' मुक्तका बद्ध भावमें खेल है और पुनः मुक्ति लाभ करना अर्थात् शिवका जीवरूपमें अभिनय और पुनः शिवत्व लाभ करना।

'यज्ञ' कर्म विशेष है। पुरुष (भगवान) ने अखण्ड अद्वय तत्त्व होते हुए भी लीला करनेके लिए अपनेको बहु भागोंमें विभक्त किया और अब प्रत्येक जीवकी पूर्णता-प्राप्ति, भगवत-प्राप्ति में सहायक है। जीवके लिए भगवानका यह त्यागात्मक कर्म 'पुरुषमेध यज्ञ' है। जीव यदि भगवानके उद्देश्यको समझ कर उनके कार्यमें सहायक होनेकी चेष्टा करे, अपनी और सब जीवोंकी पूर्णता-प्राप्ति, भगवत-प्राप्तिमें सहायक हो, तो उसका कर्म धीरे-धीरे 'नरमेध यज्ञ' में परिणत हो जायगा। यह यज्ञ भी त्यागात्मक कर्म है—सब कामना-वासना-आसक्ति, आदि त्याग कर, संयमका पथ अवलम्बन कर, पूर्णता प्राप्त करनेकी ओर अग्रसर होनेकी चेष्टा करना। जीव संस्कारके वश होकर, अज्ञानताके प्रभावसे, भगवानके कार्यमें नाना प्रकारसे बाधा देता है। बाधामुक्त होकर अबाध गति लाभ करना; भगवदिच्छा पूर्ण करनेमें सहायक होना 'नरमेध' यज्ञका तात्पर्य है। आदर्श नर जगतजीवके हितार्थं इस कार्यमें व्रती होता है। दुःखका विषय है कि नरमेध यज्ञ विकृत होकर पशु-हिंसा और नरबलिमें पर्यवसित हो गया। भगवान बुद्धने यज्ञका प्रकृत स्वरूप दिखा कर, इसका शोधन कर, यज्ञको प्रकृत स्वरूपमें प्रतिष्ठित करनेकी चेष्टा की थी।

(७) **यज्ञ भगवदाराधना** है—जिस कर्मसे चित्त शुद्ध और शान्त हो, भगवत-प्राप्ति साधित हो, वही यज्ञ है।

(क) यज्ञः फलाभिसन्धिरहितं भगवदाराधनम्—(रामानुज भाष्य)

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

(ख) यज्ञः परमेश्वराराधनम् । यज्-देवपूजायाम् (नीलकण्ठ)

(ग) इज्यते पूज्यते परमेश्वरः अनेन इति यज्ञः (गिरि)

भगवत् प्राप्तिके, पूर्णता-लाभके अनुकूल कर्म ही यज्ञ है। जो कर्म मलिनता दूर कर चित्तको शुद्ध करता है, भगवत-प्राप्तिकी योग्यता दान करता है, जीवको स्रोतापन्न करता है, उसका नाम यज्ञ है। जप, सन्ध्या, पूजा, उपासना, आराधना आदि साधनाएँ सब 'यज्ञ' नामके योग्य हैं। जिसके द्वारा भगवानसे युक्त हुआ जाय, वही यज्ञ है। कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग, ध्यानयोग-सब यज्ञके अन्तर्गत हैं। जो प्रतिबिम्ब (देवता) का अवलम्बन कर बिम्ब (भगवान) के पास लेजाय, उसी चेष्टाका नाम यज्ञ है। सब कार्योंमें भगवतशक्तिका कर्तृत्व अनुभवकर, अपना कर्तृत्वाभिमान विसर्जन कर, आत्मनिवेदन करनेका नाम यज्ञ है। जो अहंकार, निजसुखस्पृहा, प्रतिष्ठा-मोह दूर कर, जीवको प्रकृत स्वरूपमें, आत्माके सर्वगत भावमें लेजाता है, वह भी यज्ञ है। जीव कर्म करता है अभाव पूर्ण करनेके लिए, इसलिए आबद्ध हो जाता है। शिव कर्म करते हैं स्वभावसे, 'आनन्दप्राचुर्यात्'—वह कर्म मुक्तिका पथ दिखा देता है। यज्ञ मनुष्यके तुच्छ 'मैं' को महान 'मैं' में आहुति देकर, प्रकृत 'मैं' का परिचय देता है।

(८) **यज्ञ**—Process of Distillation—हवनीय सामग्रीको, भुक्त द्रव्यको देहस्थ पंचाग्निकी सहायतासे उसकी मलिनता दूर कर, क्रमशः रक्त, वीर्य, ओजस् एवं सुधामें परिणत कर, भगवानको अर्पण करना और उसके बाद उस सुधासे देहके सब तत्त्वोंको, इन्द्रियोंको आप्यायित करना, शक्तियुक्त करना, भगवत्-कार्य करनेकी योग्यता लाभ करना 'यज्ञ' है। यह सुधा ही वस्तुका प्रकृत स्वरूप, उसकी नित्य सत्ता, भागवती तनु, भगवानकी लीलास्वीकृत विग्रह है। यज्ञ द्वारा भगवदविभूतिको भगवानकी सत्ता और चैतन्यरूप अनुभव किया जाता है। अग्निका काम है सब अशुद्धि, खोट, नामरूपका मल दूर कर, शुद्ध स्वरूपको प्रकाशित करना, खरे सोनेमें, ब्रह्मरूपमें पर्यवसित करना। इसके बाद पूर्णाहुतिसे सब तत्वोंकी, हवनीय द्रव्यको, सुधामें परिणत कर, सब तत्वोंको पूर्णतः विकसित कर, पूर्ण ब्रह्मकी पूर्णरूपेण उपलब्धि कर, स्वयं पूर्ण हो जाना। भागवती तनु, दिव्य देह प्राप्त हुए बिना भगवद्दर्शन लाभ नहीं होता।

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

पृथ्वीमें दो वस्तुएँ कार्य कर रही हैं—अग्नि और सोम। यह अहं-इदं, दृष्टा-दृश्य, भोक्ता-भोग्य, अन्नाद-अन्न, प्राण-रयि नामसे परिचित हैं। प्रत्येक सोममें दो अंश होते हैं—शुद्ध और मलिन। अग्नि मलिनता दूरकर शुद्ध अंशको ऊपर सहस्रारकी ओर प्रेरण करती है। सहस्रारमें पहुँच कर शुद्ध सोम बिन्दुमें परिणत हो जाता है। यही शास्त्रीय चन्द्र-बिन्दु है। इसके बाद यह चन्द्रबिन्दु अतीन्द्रिय शक्ति के प्रभावसे निम्नगामी होकर सब देवताओंको आप्यायित करता है, जिसके फलस्वरूप मन, प्राण, देहादि सब आनन्दमय हो जाते हैं। देवताओंका आहार सोम है। अग्निकी सहायतासे देवताओंको सोम अर्पण करनेका नाम 'यज्ञ' है।

(९) **यज्ञ स्वधर्मपालन है**—स्वधर्म माने आत्माका धर्म (स्वर्ज्ञातावात्मने), आत्माके विकासके अनुकूल धर्म। भगवान सच्चिदानन्द हैं। इसलिए जो धर्म सत्ता, चैतन्य, आनन्दका वर्धक है, जो धर्म मनुष्यको भगवानके निकट लेजाता है, वह स्वधर्म है। इसके बाद आत्मा सर्वव्यापी है। इसलिए जो धर्म आत्माके सर्वव्यापित्वकी उपलब्धि कर, आत्माके प्रकाशको भगवत्-विभूति, भगवानकी मूर्ति मानकर सब जीवोंका हित करनेमें व्यस्त है, वही स्वधर्म है। इसलिए स्वधर्मका पालन मनष्यकी अपनी भगवत-प्राप्तिमें एवं सब जीवोंकी भगवत-प्राप्ति और पूर्णता-लाभमें सहशाक होगा, इसमें सन्देह नहीं। इसीलिए भगवान शंकराचार्य स्वघर्मको वर्णाश्रम धर्म नामसे निर्देश कर गये हैं। आश्रम धर्ममें अपनी सर्वोच्च उन्नति लाभ करनेकी व्यवस्था (Duty to self), वर्ण धर्म (Duty towards others) में समाज, देश एवं सब जीवोंकी यूर्णोन्नतिमें सहायक होनेका निर्देश है। वर्णाश्रम नाममें वर्ण शब्द पहले रखा गया है। इसका मतलब यह है कि आश्रम धर्मकी अपेक्षा वर्ण धर्मका अधिक महत्त्व है। अर्थात् सबके हितमें हमारा हित है, यह भाव बद्धमूल करानेकी ओर ऋषियोंकी विशेष दृष्टि थी।

गीतामें स्वधर्म-पालनको विशेष महत्त्व दिया गया है—गीता ३।३५, १८।४७। जो जातिभेदके रहस्यको न समझ कर जातिभेद दूर करनेकी चेष्टा करते हैं, वे एकबार भी विचार करके नहीं देखते कि वर्णाश्रम धर्म किसे कहते

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

हैं एवं स्वधर्म क्या है। हिन्दुओंकी आदिकालसे ही व्यष्टि-समष्टिके गूढ़ तत्त्वकी ओर दृष्टि थी और वे जीवके धर्मको आश्रम-धर्म एवं वर्णधर्ममें विभाग कर गये हैं। आश्रम धर्म (Duty towards self) में व्यष्टि जीवकी पूर्ण परिणतिका विधान है। वर्णधर्म (Duty towards others) का लक्ष्य है—समष्टिगत धर्मकी ओर, अर्थात् हम क्या काम करने आये हैं; समाज, देश, जगतके लिए हमें क्या करना होगा? वर्णधर्म निर्धारित होगा–हमारे गुण-कर्म अनुसार। गुण हमारी जन्मगत शक्ति है (Qualities with which a man is born)। यह हमारे पूर्व कर्मोंके फलसे उत्तराधिकारी रूपसे प्राप्त होता हैं अथवा भगवद्दत्त शक्तिसे (talents)। आर्य ऋषिगण इन तीनोंके वीच एक आश्चर्यजनक समन्वय कर गये हैं। ये तीनों ही समानरूपमें सत्य हैं। कर्मफल अनुसार हम विभिन्न योनियोंमें जन्म प्राप्त करते हैं—भगवत्-कृपासे पूर्व कर्मोंका फल लाभ करते हैं। सुतरां गुण हमारा जन्मगत सामर्थ्य अथवा शक्ति है। इसके बाद उस शक्तिको कर्मद्वारा, उपयुक्त शिक्षा-दीक्षा द्वारा, चालित करनेसे समझमें आयेगा कि हममें समाजका क्या कार्य करनेका सामर्थ्य है। उस योग्यताके अनुसार यदि हम समाजका कल्याण करनेकी यथासाध्य चेष्टा करें तो हम समाजकी उन्नतिमें सहायक होंगे—इसमें सन्देह नहीं हो सकता। आजकलकी अर्थगत, वंशगत, सामर्थ्यगत योग्यताकी अपेक्षा ऋषियोंकी प्रदर्शित योग्यताकी प्रधानता अस्वीकार नहीं की जा सकती। सुतरां मनुष्यका स्वधर्म आत्मविकासके, जीवके हितके अनुकूल धर्म है—यही वर्णाश्रम धर्म है।

ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ और संन्यास–ये चार आश्रम-धर्म थे। ब्रह्मचर्य आश्रममें हम संयत, शुद्ध और शान्त होकर अपने जीवनके कर्तव्योंके सम्बन्धमें, साधन-भजनके विषयमें, शिक्षा प्राप्त करते थे। गृहस्थ जीवनमें जिन-जिन अवस्थाओंमें पड़ जानेकी सम्भावना हो सकती है, उन सब अवस्थाओंमें, स्वयं स्वरूप-प्रतिष्ठ रहकर, संसार-रणमें विजय प्राप्त करनेकी उपयुक्त शिक्षा ब्रह्मचर्याश्रममें शुरू होती थी। अनासक्त फलाकांक्षा-रहित होकर भगवदिच्छा पूर्ण करनेके लिए कर्मयोगकी शिक्षा इस आश्रममें लाभ होती थी। तब हम 'अनासक्त-अनुरागी संसारी-संसारत्यागी' का तत्त्व समझनेके योग्य होते

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

थे। ब्रह्मचर्य आश्रममें हमें आदर्श गृहस्थ बननेके लिए तैयार किया जाता था। उपयुक्त शिक्षा समाप्त होनेपर हम कर्मकाण्ड-प्रधान संसार आश्रममें प्रवेश करते थे। इस प्रवेशमें पहला काम था, विवाह। ब्रह्मचर्य आश्रममें जो सीखा है–उस परोक्ष शिक्षाको कर्मद्वारा अब प्रत्यक्ष करनेका सुयोग मिलता था; जो सीखा है, वह सम्पूर्णतः सत्य है, इसकी उपलब्धि करनेका सुयोग मिलता था। तब हमारा जीवन आदर्श रूप धारण कर लेता था। इसके बाद वानप्रस्थ आश्रममें हम देहकी अनित्यता एवं आत्माकी नित्यताकी उपलब्धिका अवश्यम्भावी मृत्युको आदरसहित वरण करनेकी शिक्षा प्राप्त करते थे। इस आश्रममें हमें यह तत्त्व हृदयंगम करनेका मौका मिलता था कि स्त्री-पुत्र आदि वास्तवमें हमारे नहीं हैं, न हमारे साथ आये थे, न हमारे साथ जायेंगे। तब हम संसारका भार इनके ऊपर सौंपकर संसारके अतीत शान्तिधाममें जानेके लिए तैयार होते थे। अन्तमें, हम संन्यास आश्रममें सम्पूर्णतः आसक्ति-रहित होकर, कामना-वासनासे मुक्ति लाभ कर, अपने स्वरूपमें प्रतिष्ठ होकर, मृत्युके भीतरसे अमृतधाममें जानेका सुयोग लाभ करते थे। मनुष्यके व्यक्तिगत जीवनमें जो शिक्षा, जो अभिज्ञता, जो वैराग्य परमपदकी प्राप्तिमें सहायक हैं, आश्रमधर्मके द्वारा हम उन सब विषयोंमें सत्‌शिक्षा प्राप्त करते थे।

इसलिए वर्णाश्रम धर्म मनुष्यके आदर्श जीवन-लाभ करनेमें, उसके व्यष्टि और समष्टिगत सब कर्तव्य सम्पादन कर, परमपदकी प्राप्तिमें सहायक है, इसमें सन्देह करनेका कोई कारण नहीं। यज्ञसे जो फल प्राप्त होता है, स्वधर्म-पालनसे ठीक वही फल मिलता है। इसीलिए प्राचीन ऋषिगण स्वधर्म-पालनका प्रसिद्ध यज्ञ रूपमें वर्णन कर गये हैं।†

---

† ['धर्म' वह है जो धारण करके रखता है—देहकी, परिवारकी, समाजकी, पृथिवीकी, जीवमात्रकी पतनसे रक्षा करता है, कर्तव्य करनेमें नियुक्त रखता है। 'धर्मो रक्षति रक्षितः'—जो धर्मकी रक्षा करता है। पालन करता है, धर्म उसकी रक्षा करता है, उसका पालन करता है। दुःखका विषय यह है कि साधारण लोग उसको धार्मिक समझते हैं, जो समस्त दायित्व ज्ञानका त्यागकर अस्वाभाविक रूपसे कर्मसे दूर रहनेकी चेष्टा करता है। त्याग करना

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

(१०) **इन्द्रियोंसे विषय-ग्रहण करनेमें यज्ञ-भावना**—शब्द-स्पर्शादि विषय परा अवस्थासे उतरकर, इन्द्रियोंके रास्तेसे हमारे भीतर प्रवेश कर, फिर परा अवस्थामें चले जा रहे हैं, यह अनुभूति यज्ञतत्त्वके अन्तर्गत है। गीताके 'ब्रह्मार्पणं ब्रह्महविः' श्लोकका तात्पर्य भी यही है कि हमारे मन-बुद्धि-इन्द्रियादिके सब कार्य वे ही कर रहे हैं, हम केवल निमित्त हैं। सब स्रोत अथवा कम्पन उन्हींके पाससे आते हैं और फिर उन्हींमें जाकर पर्यवसित हो जाते हैं—यह नाद-बिन्दुका खेल अनुभव करना भी यज्ञतत्त्वके अन्तर्गत है। 'पूजा ते विषयोपभोग रचना'—विषयोपभोगको पूजामें परिणत करना, सब कार्योंको पूजामें पर्यवसित करना, यज्ञतत्त्वके अन्तर्गत है। जपयज्ञमें श्वास-प्रश्वासकी-afferent और efferent current की, क्रियाके भीतर हम नरमेध और पुरुषमेध यज्ञका आस्वादन करते हैं एवं 'तत्' और 'त्वं' की लीला-दर्शन करते हैं।

(११) विषयको इन्द्रियोंमें, इन्द्रियोंको प्राणमें, प्राणको मनमें, मनको विज्ञानमें, विज्ञानको आनन्दमें और आनन्दको आत्मामें आहुति देनेकी व्यवस्था, जो उपनिषदोंमें बर्णन की गयी है, यज्ञतत्त्वके अन्तर्गत है।

(१२) कार्यके माध्यमसे मूलकारणमें पहुँचानेकी चेष्टा यज्ञ है। एक बार मूलकारण ('सर्वकारणकारणं') में पहुँचकर कार्य-कारणकी लीलाका दर्शन और तत्त्वानुसन्धान—कारणका कार्यमें आगमन और कार्यका फिर मूलकारणमें पर्यवसान—यज्ञतत्त्वके अन्तर्गत है।

(१३) व्यष्टि-समष्टि तत्त्वका अनुशीलन यज्ञ है। व्यष्टि-समष्टिके संबन्धको जानकर, व्यष्टिकी समष्टिमें आहुति देना, समष्टिके कार्यमें सहायक होना भावनात्मक यज्ञ है। यह व्यस्त-समस्त होम नामसे वर्णित है।

होगा आसक्ति, प्रतिष्ठा-मोह, भोगेच्छा, और स्वार्थका—सद्गुणोंका कदापि नहीं। स्वधर्मका साधारण अर्थ Duties and Responsibilities (Personal as well as Collective) समझना चाहिए।]

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

(१४) देवताओंके निमित्त द्रव्य त्याग करना, आहुति देना, अग्निकी सहायतासे देवताओंकी तृप्ति-साधन करना और फिर देवताओंका जीवके सब तत्त्वोंको आप्यायित करना 'यज्ञ' है।

(१५) "पाङ्क्तौ वै यज्ञः"—देवता, हविद्रव्य, मंत्र, ऋत्विक और दक्षिणा, इन पाँचोंके एकत्र समावेशसे यज्ञ साधित होता है।

सारांश—भगवत-प्राप्तिके अनुकूल, एकताका साधक, आत्मज्ञानमूलक, शक्ति-दायक कर्ममात्र ही यज्ञ है। प्राचीन ऋषियोंने साधारण जीवके लिए द्रव्यात्मक यज्ञको प्रधानता देते हुए भी यज्ञको केवल अग्निमें घी डालनेमें पर्यवसित नहीं किया।

●

यज्ञका प्रयोजन

भगवतस्वरूप और साधनरहस्य समझमें आजानेसे हमारे अनुभवमें आयेगा कि यज्ञ कितनी जरूरी चीज है। जो जीवनका लक्ष्य है और जिसके द्वारा वह लक्ष्य सिद्ध होता है, उसकी आवश्यकताको कोई अस्वीकार नहीं कर सकता। **मानव जीवनका प्रधान लक्ष्य है, भगवत-प्राप्ति अथवा पूर्णता लाभ करना।** यज्ञ द्वारा यह लक्ष्य सुचारु रूपसे सिद्ध होता है। इसके अलावा अभ्युदय (धर्म, अर्थ, काम) एवं निःश्रेयस् (मोक्ष) जो उपनिषद्के मतानुसार जीवनका लक्ष्य है—इनकी प्राप्तिकी व्यवस्था भी यज्ञमें है। मनुष्य चाहता है दुःखकी निवृत्ति और आनन्दकी प्राप्ति, जिसके फलस्वरूप स्वभावमें स्थिति लाभ होती है। हवनक्रियाके शुद्धितत्त्वके द्वारा हम अपने चित्तसे काल्पनिक अभाव दूरकर, उस शुद्ध चित्तको भगवद्-भावसे पूर्ण कर, भगवद्-भावसे परिभावित होकर, पूर्णता लाभ करते हैं।

सामाजिक दृष्टिसे यज्ञका उद्देश्य है—एकता-स्थापन एवं बहुत्वमें एकत्व, अद्वैत तत्त्वकी उपलब्धि (Unity in diversity)। **सब भेदभाव, दुःख,-कष्टका कारण है—तामसिक अहंकार।** यज्ञ द्वारा यह अहं भाव दूर होता है

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

और सर्वत्र अद्वैतानुभूति-जनित परम शान्तिका भाव स्थापित होता है। यज्ञ सब ईर्ष्याद्वेष, झगड़ा-विवाद आदि द्वन्द्वभाव, द्वैतभाव, दूर कर जगतमें मैत्रीभाव आनयन करता है, सर्वभूतमें प्रेमका प्रचार करता है। जीवजगत भगवानकी सजीव मूर्ति है, यह भाव प्रतिष्ठित कर सर्वत्र ब्रह्मदर्शन, ब्रह्मध्यान, शिवकी सेवाके ज्ञानसे जीवसेवा करनेकी प्रवृत्ति और योग्यता दान कर यज्ञमानव-जीवन सार्थक करता है। यज्ञका बाहरी उद्देश्य है—समाजमें एकता स्थापित करना, सबको संघबद्ध करना, समष्टिके कल्याणमें व्यष्टिका कल्याण है यह तत्त्व अनुभव कराके, व्यष्टि स्वार्थकी समष्टि स्वार्थमें आहुति देना। यज्ञका भीतरी उद्देश्य है—सर्वत्र ब्रह्मानुभूति, पूर्णता-लाभ, भगवत्-प्राप्ति। वैदिक युगमें समाजकी स्थिति और कल्याणके लिए सब अनुष्ठानोंको यज्ञरूपमें ग्रहण किया जाता था। अतिवृष्टि, अनावृष्टि, राष्ट्रविप्लव, महामारी, इत्यादि दूर करनेके लिए सब दलबद्ध होकर यज्ञानुष्ठान करते थे।

यज्ञकी सुगन्धित आहुतिसे देशकी वायु शोधित और स्वास्थ्यमें उन्नति होती थी। अतिवृष्टि और अनावृष्टिमें एक शृंखला स्थापित होती थी। यज्ञके प्रसाद इड़ाके भक्षणसे एकताका भाव प्रसारित होता था, देवताके आनेका पथ सुगम हो जाता था। पंचमहायज्ञ जाति, समाज, देश, जीवसेवाके, सर्वत्र ब्रह्म-दर्शनके कितना अनुकूल है, थोड़ा विचार लगानेसे ही यह समझमें आ सकता है। द्रव्यात्मक यज्ञ द्वारा स्वार्थी, धनी, मानी व्यक्ति अज्ञात रूपसे जीवसेवाकी ओर प्रेरित होता था और क्रमशः भावनात्मक यज्ञका अधिकारी होजाता था। यज्ञ सकामीको निष्कामी, लोभीको त्यागी, कृपणको दानी बना देता था।

याद रखना चाहिए कि जैसा पूजाके मंत्रोंके द्वारा धारणा-ध्यान-निदिध्या-सनके फलस्वरूप भगवत-प्राप्ति सहज होजाती है, उसी प्रकार यज्ञकी अनुष्ठान-विधि, हवनके मंत्र एवं उनके भावमें धारणा-ध्यान-समाधिकी व्यवस्था रखनेसे, मनुष्य द्रव्यात्मक यज्ञके माध्यमसे भावनात्मक यज्ञमें और अन्तमें केवलात्मक यज्ञमें पहुँच सकता है। यज्ञका प्रकृत फल तभी प्राप्त होता है। इसके लिए चाहिए संयम, त्याग, योगसाधना। तब सिद्धि अपने-आप आजाती है। यज्ञ चित्त-शुद्धिमें सहायक है। यज्ञके द्वारा हम भगवत्-भावसे परिभावित होकर

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

सर्वत्र भगवत्-दर्शनकी, पूजाके ज्ञानसे, सबके माध्यमसे, भगवानकी सेवा करनेकी योग्यता लाभ करते हैं। यज्ञ पूर्णतालाभका, एकता-स्थापनका, अद्वैतानुभूतिका, भगवत्प्राप्तिका मुख्य आधार है।

सारांश—जब मनुष्य-जीवनमें उन्नति और शान्ति लाभ करनेके लिए जो कुछ आवश्यक है, उस सबकी विधि-व्यवस्था यज्ञतत्त्वमें है, तो यज्ञकी प्रयोजनीयताको अस्वीकार नहीं किया जा सकता। इसलिए यज्ञकी आगन्तुक मलिनताको दूरकर, उसका प्रकृत स्वरूप समझ कर, उसका सद्व्यवहार कर, अपना, समाजका, देशका, पृथिवीका कल्याण करनेके लिए सबको सचेष्ट होना चाहिए।

●

यज्ञके प्रकार और अधिकारी-विचार

मनुष्यकी योग्यता और रुचिके अनुसार यज्ञके अनेक प्रकार हैं। जब जीव अनन्त हैं तो यज्ञका भी अनन्त होना स्वाभाविक है। जैसे वृक्ष संख्यामें अनन्त हैं, फिर भी उन्हें कुछ वर्गोंमें श्रेणीबद्ध कर दिया गया है। इसी प्रकार यज्ञ अनन्त होते हुए भी मनुष्यकी योग्यताके अनुसार उसके कुछ भेद मान्य हैं, लेकिन इस विषयमें सब एकमत नहीं हैं।

(१) यजुर्वेदमें द्रव्यात्मक, सामवेदमें भावनात्मक अथवा मिश्र और ऋक्वेदमें केवलात्मक अथवा ज्ञानयज्ञकी प्रधानता है। इसलिए वैदिक यज्ञको द्रव्यात्मक, भावनात्मक और केवलात्मक भेदानुसार त्रिविध कहा जा सकता है।

(२) गीताके कर्मयोग, भक्तियोग, ज्ञानयोगको वेदके द्रव्यात्मक, भावनात्मक, केवलात्मक यज्ञके अनुरूप कहा जा सकता है। इसके अलावा गीतामें द्रव्ययज्ञ, तपोयज्ञ, योगयज्ञ, स्वाध्याययज्ञ, ज्ञानयज्ञका भी उल्लेख है। तपोयज्ञ, योगयज्ञ, स्वाध्याययज्ञको अगर भावनात्मक यज्ञकी श्रेणीमें रखा जाय तो गीतोक्त यज्ञको

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

भी वैदिक यज्ञकी भाँति द्रव्यात्मक, भावनात्मक, केवलात्मक, इन तीन भागोंमें विभक्त किया जा सकता है।

(३) श्रौत और स्मार्त भेदसे भी यज्ञ का विभाग है।

(४) इसके अलावा नित्य-नैमित्तिक भेदानुसार भी यज्ञका विभाग है। नित्य अनुष्ठेय यज्ञमें सन्ध्या, वन्दना, पंचमहायज्ञ प्रधान हैं। अश्वमेध, राजसूय आदि नैमित्तिक यज्ञ अब प्रायः लुप्त हो गये हैं।

(५) जाति भेदानुसार भी यज्ञमें भेद दृष्ट होता है। ब्राह्मणके लिए जपयज्ञ, क्षत्रियके लिए आरम्भ यज्ञ, वैश्यके लिए हविर्यज्ञ और शूद्रके लिए परिचर्यात्मक यज्ञका उल्लेख है। यहाँ स्वधर्म-पालनकी बात ही याद आती है।

आरम्भयज्ञा क्षत्रा स्यु हविर्यज्ञा विशः स्मृताः।
परिचारयज्ञाः शूद्रास्तु जपयज्ञास्तु ब्राह्मणः॥

(६) युगानुसार भी यज्ञका विभाग है। सत्ययुगमें ध्यानयज्ञ, त्रेतामें ज्ञानयज्ञ, द्वापरमें होमादि दैवयज्ञ और कलियुगमें दानयज्ञ अथवा संकीर्तनयज्ञ। "दानमेकं कलौयुगे", "कलौ तत् हरिकीर्तनात्"। चैतन्य महाप्रभु उच्चस्वरसे भगवानका नाम कीर्तन करनेको कलियुगका यज्ञ मानते थे। 'कलियुग केवल नाम आधारा'। यजुर्वेद संहितामें पन्द्रह प्रकारके यज्ञोंका उल्लेख है। आपस्तम्बके मतानुसार यज्ञ द्विविध है—ज्ञान और कर्म अथवा श्रौत और गृह्य।

तंत्रशास्त्रने जगतके सब तत्वोंका, 'तत्' की विभन्न विभूतियोंको, पैंतिस भावोंमें विभक्त किया है। सांख्य दर्शनमें चौबिस तत्वोंका उल्लेख है। इनके प्रत्येक तत्वमें अग्निकी, प्राणतत्वकी, भगवानकी लीला-दर्शन करना ही जब यज्ञका उद्देश्य है, तब यज्ञको साधारणतः इन्हीं पैंतिस या चौबिस भागोंमें विभक्त करना ही स्वाभाविक है।

समग्र विश्वमें विशाल और धारणातीत मूर्ति धारण कर जो व्यवस्था क्रिया कर रही है, उस व्यवस्थाकी छोटे आकारमें उपलब्धि करना और नित्य अनुष्ठान द्वारा उसको अपने अधीन करना ही यज्ञका उद्देश्य था। कपिल ऋषिने आकर द्रव्ययज्ञको ज्ञानयज्ञमें परिणत किया। तब यह यज्ञ बाहर नहीं, भीतर चलने लगा। चतुरसने आत्मयज्ञकी प्रतिष्ठा की। पृथुने राजवेशमें,

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

रामचन्द्रने एकाधारमें राजा और भिखारीके वेशमें, कृष्णने अनेकांश राजवेशमें यज्ञकी गतिको स्वधर्म-पालनकी ओर चलाया। भगवान बुद्धने राज्यको ठुकरा कर कठोर तपस्वीरूपमें यज्ञकी गतिको संयम और सेवाकी ओर फिराया। चैतन्य महाप्रभुने कीर्तन-यज्ञका प्रवर्तन किया।

सारांश—समस्त विश्वके प्रत्येक तत्वमें एक महान यज्ञ निरन्तर हो रहा है। अग्नि ही विश्वके विवर्तन की प्रधान शक्ति है। इस यज्ञतत्त्वको अनुभव कर इसके अनुकूल अपने जीवनको चलाना ही मनुष्यकी साधना है।

अधिकारी विचार—शास्त्र सबके लिए हैं। शास्त्रमें किसीको बाद नहीं दिया गया। माँ सबकी माँ है। सुपुत्र या कुपुत्र कोई भी माँके स्नेहसे वंचित नहीं होता। सब लोग एक भावके नहीं हैं। लोगोंकी समझ और बुद्धिमें अनन्त भेद हैं। इसलिए देश-काल-पात्रानुसार शास्त्रीय विधानमें भी भेद है। बोधके तारतम्यानुसार पण्डितोंने मनुष्य जातिको उत्तम, मध्यम, अधम—इन तीन श्रेणियोंमें विभक्त किया है। इस हिसाबसे यज्ञमें भी यह त्रिविध भेद हैं। निम्न श्रेणीके साधारण लोगोंके लिए द्रव्यात्मक यज्ञ, मध्यम श्रेणीके लिए मिश्र या भावनात्मक यज्ञ और उत्तम अधिकारीके लिए ज्ञानात्मक यज्ञ विहित है। इसके ऊपरकी तुरीयावस्थाके लिए शास्त्रमें कोई विधि-निषेध नहीं है। वे जो करें, वही पूजा और यज्ञ है। उनके यज्ञको केवलात्मक यज्ञ कहा गया है। ज्ञानात्मक और केवलात्मक यज्ञमें भेद बहुत ही कम है, इसलिए इन दोनोंको समान भावमें ही माना जाता है।

जिनकी धारणा शक्ति कम है, जो केवल सांसारिक सुख चाहते हैं, सांसारिक सुखमें मग्न हैं, जो विषयजनित इन्द्रियोंकी तृप्तिके अलावा और कुछ नहीं जानते-समझते, उन्हें इन्द्रियोंके तृप्तिकर पदार्थोंके माध्यमसे ही ऊपर उठाना होगा। उनके लिए द्रव्यात्मक यज्ञ है। उनके लिए आवश्यकीय द्रव्य हैं—स्वादिष्ट तृप्तिकर भोगके पदार्थ। उनके आदर्श रखे गये हैं—मनुष्योचित देवता, जिनका जीवन, बल, वीर्य, शक्ति, भोगके उपादान चिरस्थायी हैं और जो स्वर्गके सुख-भोगमें व्यस्त हैं। उन देवताओंकी तुष्टिसे सुखकी प्राप्ति और उनके शापसे दुःखकी प्राप्ति अनिवार्य है। इहकाल और परकालकी सुखकी चाबी उन देव-

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

ताओंके हाथमें रखी गयी है, जिससे धनी, मानी, पदस्थ, अत्याचारी व्यक्ति देवताओंके भयसे अपने आपको यथासम्भव संयत रखनेकी चेष्टा करे और अज्ञात रूपसे ऊपर उठ सके, इसलिए उसके वास्ते द्रव्यबहुल सकाम द्रव्यात्मक यज्ञकी व्यवस्था की गयी है। इस प्रकारके लोगोंके अपने नाम और सुखके लिए धूम-धामसे यज्ञानुष्ठान करनेकी प्रवृत्ति दी गयी है। ऋषियोंके इस प्रकार निम्नाधिकारीको अज्ञातरूपसे धीरे-धीरे ऊपर उठानेका कौशल देखकर अवाक् होजाना पड़ता है।

'द्रव्य' शब्दका अर्थ है जो चित्तको द्रवीभूत करे, आकृष्ट करे, अर्थात् जो लोभनीय है। भगवान सर्वत्र हैं। द्रव्य या पदार्थ उनकी विभूति या प्रकाशमूर्ति है, जिसके भीतर रहकर भगवान मनुष्यके चित्तको आकर्षित करते हैं। हमारे आकर्षित होनेके मूलमें है भगवानका आकर्षण। द्रव्यको पदार्थ भी कहते हैं। पदार्थका अर्थ है—परम पदका प्रकाश या विग्रह, जो परम पदकी ओर ले जाता है। अर्पणकी क्रिया और मंत्रोंमें हम देखते हैं कि हमारे देह, इन्द्रिय, बन्धु-बान्धवादि हमारे नहीं हैं, ये सब भगवानके हैं, इसीलिए हमारे प्रिय हैं। "सर्वं त्वदीयं इति मे प्रियमेव सर्वम्।" देवगण भी भगवानके प्रतिबिम्ब हैं, भगवत्-भावसे परिभावित, भगवत-शक्तिसे शक्तिमान हैं, जीवकी मनोकामना पूर्ण करनेमें तत्पर और सुदक्ष हैं। देवताओंको द्रव्य अर्पण करनेके माध्यमसे हमें उन आदि-देवके निकट पहुँचनेका सुयोग मिलता है। निम्न अधिकारीको अज्ञातरूपसे क्रमशः ऊपर उठानेका कौशल बड़ा चमत्कारी है। श्रेणी विभाग होनेपर भी गुण-कर्मके अनुसार ऊपर उठनेकी प्रणाली व्यक्तिकी साधनापर निर्भर करती है।

●

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

द्रव्यात्मक, भावनात्मक, केवलात्मक यज्ञ

ब्रह्मकी जब सृष्टि करनेकी इच्छा हुई तो वे स्वयं जीवजगतरूपमें परिणत या विवर्तित हो गये। इस परिणति या विवर्तनका बाहरी अंश द्रव्य या पदार्थ है। इसका काम है—मनुष्योंको अज्ञात रूपसे भगवानके निकट ले जाना। सभी द्रव्य या पदार्थ स्वरूपतः ब्रह्मशक्तिके प्रकाश हैं। ब्रह्मकी सृष्टि, परिणति या विवर्तन जीवको उनकी ओर आकर्षित करनेके लिए है।

द्रव्यात्मक या पदार्थात्मक यज्ञ—द्रव्यका अर्थ है—जो चित्तको द्रवीभूत करे, आकर्षित करे, अर्थात् जो लोभनीय है, जिसमें साधारण मनुष्यका मन फँसा रहता है। द्रव्यको पदार्थ भी कहते हैं। पदार्थका अर्थ है 'पद' का, भगवानका, 'अर्थ' यानी प्रकाश या विग्रह। द्रव्य या पदार्थ भगवानकी विभूति या प्रकाश है, जिसके भीतर रहकर भगवान मनुष्यके मनको आकर्षित करते हैं। द्रव्य अथवा विषयके माध्यमसे 'विषयी' अथवा 'पद' के निकट पहुँच जानेकी चेष्टाका नाम द्रव्यात्मक या पदार्थात्मक यज्ञ है।

हम स्थूलमें सीमाबद्ध हैं। सूक्ष्म तत्त्वकी कल्पना करनेमें भी असमर्थ हैं। इसलिए वैदिक ऋषियोंने हमें स्थूलके माध्यमसे, स्थूलका तत्त्व अनुभव कराके क्रमशः सूक्ष्म, कारण और गुणातीत तत्त्वमें लेजानेकी चेष्टा की है। हमारा मन विषय-सुखमें मुग्ध है। इसीलिए ऋषियोंने इस प्रकार विषय-सुखको भोगनेकी शिक्षा दी कि जिससे हम क्रमशः विषयके माध्यमसे विषयीके पास पहुँच सकें। जिसका मन जिस तत्त्वमें सीमाबद्ध है, उसको उसी तत्त्वकी उपासना द्वारा, ऊपरके तत्त्वोंको क्रमशः भेद कर तत्त्वातीत परम पदके निकट ले जाना होगा। इसीलिए साधारण जीवके लिए द्रव्यात्मक यज्ञकी व्यवस्था की गयी। द्रव्यको पदार्थ भी कहते हैं। इसीलिए साधारण जीवको निर्दिष्ट पदार्थके अर्पणमें पदार्थका प्रकृत स्वरूप, अर्पणका प्रकृत रहस्य, समझा कर उसके अन्तर्निहित परम पदके निकट लेजानेका व्यवस्था की गयी है। सब द्रव्य उनके हैं। हमारे देह, इन्द्रिय,

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

आत्मा, बन्धु-बान्धव भी सब उनके हैं। उनके हैं, इसीलिए हमारे इतने प्रिय हैं —द्रव्यात्मक यज्ञमें इस तत्त्वकी उपलब्धिकी व्यवस्था है।

सब द्रव्य या पदार्थ अर्पण किये जाते हैं देवताओंको। साधारण मनुष्य भगवानके प्रकृत स्वरूपकी उपलब्धि नहीं कर सकता। इसलिए उसको भगवानके प्रतिबिम्ब देवताओंका अवलम्बन कर भगवानके पास लेजानेकी व्यवस्था की गयी। प्रतिबिम्बका अवलम्बन कर बिम्बके पास पहुँच जाना—तटस्थ लक्षणके माध्यमसे स्वरूप लक्षणके पास पहुँच जाना—देवताकी पूजा, मूर्ति-पूजा, प्रतीक पूजाका यही उद्देश्य है। देवताओंकी मूर्तियाँ सुन्दर चित्ताकर्षक आदर्श मनुष्य रूपमें बनायी गयीं, जिससे कि साधारण मनुष्य उनके पास जानेको लुब्ध हों। देवगण भगवानके प्रतिबिम्ब, भगवत-भावसे परिभावित, भगवत-शक्तिसे शक्तिमान हैं। हमारा चित्त आकर्षित करनेके लिए आदर्श मनुष्य रूपमें उनका वर्णन किया गया है। वे हमारा अभीष्ट पूर्ण करनेमें सुदक्ष, हमारे भागके नियन्ता, हमारा कल्याण करनेमें तत्पर हैं। इन देवताओंके माध्यमसे उन आदिदेवके पास पहुँचनेकी सुन्दर व्यवस्था द्रव्यात्मक यज्ञमें दृष्ट होती है।

द्रष्टा और दृश्यकी पारस्परिक साधना—द्रव्यकी स्वरूपोपलब्धिके भीतर दो तत्त्व निहित हैं—एक साधक द्रष्टाके पक्षसे और दूसरा द्रव्यके पक्षसे। साधनाके फलस्वरूप हम द्रव्यके प्रकृत स्वरूपके भीतर अग्रसर होनेकी शक्ति लाभ करते हैं और द्रव्यकी अन्तर्निहित शक्तिके प्रभावसे द्रव्यका प्रकृत स्वरूप हमारे निकट प्रकाशित होने लगता है। सिद्धि निर्भर करती है द्रष्टा और दृश्यकी इस पारस्परिक क्रियाके ऊपर—अर्थात् दृश्यका आत्मप्रकाश और द्रष्टाकी साधनाजनित अन्तर्दृष्टिके ऊपर। द्रव्यात्मक यज्ञमें हम देखते हैं कि यजमान, होता, अध्वर्यु आदि शुद्ध भगवत-भावसे परिभावित होकर अन्तर्दृष्टि लाभ करनेकी योग्यता अर्जन करते हैं। हवनीय द्रव्य जो यज्ञमें व्यवहार किये जाते हैं, वे भीतरके भावके उद्दीपक हैं। हमारा प्रकृत स्वरूप और हवनीय द्रव्योंका भी प्रकृत स्वरूप अर्थात् पराभाव, पश्यन्ती-मध्यमा-वैखरी आवरणोंसे ढका हुआ है। हम केवल वैखरी (स्थूल) जगतमें रहते हैं, स्थूलमें ही व्यस्त हैं। द्रष्टा साधकका काम होगा—अपने भीतरके स्तरोंको भेदकर अपने प्रकृत स्वरूप परावस्थामें पहुँचनेकी चेष्टा करना। सब दृश्य हवनीय द्रव्य भी मनुष्यको अपने

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

वैखरी रूपसे आकर्षित कर क्रमशः अपने परास्वरूपकी ओर लेजायेंगे। यह द्रष्टा और दृश्य, यजमान और हवनीय द्रव्योंके आत्मप्रकाशके ऊपर यज्ञतत्वकी सिद्धि निर्भर करती है। यज्ञके समय हवनीय द्रव्य अपने सब स्तर भेदकर अपना स्वरूप प्रकाशित करनेमें व्यस्त होंगे; और द्रष्टा यजमान भी, स्वयं स्वरूपप्रतिष्ट होकर, हवनीय द्रव्यों के स्तरोंको भेदकर, उनका प्रकृत स्वरूप उपलव्ध करनेकी चेष्टा करेगा। दाता (giver) और गृहीता (receiver) ठीक हों तो सर्वत्र ब्रह्मोपलब्धि सहज, सुन्दर और स्वाभाविक हो जाती है।

प्रतीक वस्तुके माध्यमसे परमतत्त्व, परम पदकी उपलब्धि—द्रव्यात्मक यज्ञमें एवं साधारण पूजाविधिमें प्रतीकका अवलम्बन कर परमतत्त्व, परम पदकी उपासना की जाती है। द्रव्य, मंत्र और अर्पणकी प्रणाली इस प्रकार सजायी गयी हैं कि उनके अन्तर्निहित तत्त्व कमशः बाहर प्रस्फुटित हो जाते हैं। फूल अपने सौन्दर्य और सुगन्ध द्वारा हमें अपने भीतरके सौन्दर्य और सद्गुणोंकी याद करा देता है। फिर बादको यह भाव फूट निकलता है कि भीतर-बाहरका सब सौन्दर्य उन परम सुन्दरकी महिमा प्रकाशित करता है एवं हमारे भीतरके सद्-गुण और सद्भाव उन्हीं परम सुन्दरके विकास हैं। प्रतीकका अवलम्बन किया जाता है-तत्त्वको प्रकाशित करनेके लिए। एकबार तत्त्व अन्तस्में प्रकाशित हो जाय तो फिर प्रतीककी आवश्यकता नहीं रहती। अग्निका आवाहन, द्रव्योंका शोधन, अर्पणके मंत्र, ध्यान और पूजादिमें कुछ ऐसे रहस्य हैं, जिनके फलस्वरूप अग्निका प्रकृत स्वरूप प्रकाशित होकर साधकको भावनात्मक यज्ञकी ओर ले जाता है। बाह्यिक आहुतिके मंत्र इस प्रकार सज्जित हैं, जिससे साधकके भीतर-से प्रकृत त्यागका रहस्य, देवता और साधकके बीचका आदान-प्रदान रहस्य स्फुटतर होने लगता है। इसके ऊपर, मंत्रोंकी उच्चारण-प्रणाली एवं मुद्रादिके प्रभावसे यजमानका मन द्रव्यात्मक यज्ञसे स्वभावतः भावनात्मक यज्ञकी ओर आकृष्ट होता है।

द्रव्य या पदार्थका अर्पण तत्त्व—द्रव्यात्मक यज्ञ प्रथम स्तरके लोगोंके लिए है। द्रव्यात्मक यज्ञके साथ द्वितीय स्तरके भावनात्मक यज्ञको इस प्रकार क्रमान्वित किया गया है कि प्रथम स्तरका कार्य यदि ठीकसे किया जाय, तो साधक

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

का चित्त स्वतः द्वितीय स्तरमें पहुँच जाता है। पाद्य-समर्पणके माध्यमसे इष्ट-देवको स्नान करानेके साथ-साथ स्वयं शुद्ध होकर स्नान करनेकी व्यवस्था है। फिर स्नानके मंत्रोंमें साधकका चित्त शुद्ध होनेकी व्यवस्था रखी गयी है। अपना स्नान, बन्धु-बान्धवोंका स्नानतक क्रमशः इष्टके स्नानमें पर्यवसित हो जाता है। पुष्पादिके समर्पणमें अपने भीतरके सद्‌गुणोंको जागरित करनेकी व्यवस्था है। अन्तमें, यह सब सद्‌गुण भी जो भगवानकी विभूति हैं—यह अनुभव कराके उन सबको भगवानकी इच्छा पूर्ण करनेमें लगानेकी व्यवस्था है। यज्ञके उपकरण द्रव्य, यज्ञके मंत्र, यज्ञकी साधन-प्रणाली हमें यज्ञके माध्यमसे मूल कारण सत्तामें ले जाते हैं।

सर्वत्र ही पुजारीको इष्टकी ओर, साधकको साध्यकी ओर;जीवको शिवकी ओर लेजाकर, जीव और शिवका भेद दूरकर, जीवको स्वरूप-प्रतिष्ठ कर भगवल्लीलामें सहायक बना देनेकी एक सुन्दर व्यवस्था दृष्ट होती है। भावनात्मक यज्ञ भगवान किस प्रकार हमारे भीतर-बाहर लीलारत हैं—यह समझाकर साधकको भगवत-भावसे परिभावित कर, जीवजगत जो भगवानकी परिणति या विवर्तन है, यह समझाकर साधकको सविकल्प समाधिकी योग्यता दान करता है। तब प्रकृत अद्वैत तत्त्व साधकके अनुभवमें आता है। इसके बाद केवलात्मक यज्ञके भीतरसे भगवानका लीलातत्व आस्वाद करनेकी योग्यता लाभ होती है। "ब्रह्मार्पणं ब्रह्महविः" मंत्र तब साधकके अनुभवमें आता है। भगवान ही सब हैं—उनके अलावा और कुछ नहीं है—यह तत्व अनुभवमें आकर साधकको केवलात्मक यज्ञकी ओर लेजाता है।

भावनात्मक यज्ञ—भावनात्मक यज्ञ मानसिक पूजाकी तरह है। इसमें हृदयको समस्त कामना-वासना-आसक्ति-स्वार्थ-सुखस्पृहा-अहंकार-प्रतिष्ठाका मोह, कल्पना-जल्पना आदिसे मुक्त कर चित्तको शून्यमें परिणत करनेकी सुन्दर व्यवस्था लक्षित होती है। तब शून्य चित्तको भगवतभावसे पूर्ण कर सर्वत्र भगवद्दर्शन, भगवत-ध्यान, भगवतसेवाकी योग्यता प्रदान की जाती है। तब अपने और सब जीवोंके भीतर बैठे भगवान कैसे लीलारत हैं—इस तत्वकी उपलब्धि होती है।

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

भावनाका अर्थ है चिन्तन—ध्यान, मनन, निदिध्यासन। भावनाके फल-स्वरूप साधक इष्टभावसे परिभावित होकर इष्टका सारूप्य लाभ करता है ('भजेत् भ्रमरकीटवत्') अर्थात् ध्याता ध्येयमें रूपान्तरित हो जाता है। किसी द्रव्यको किसी रसमें इस प्रकार डुबाकर रखना कि द्रव्यका प्रत्येक परमाणु रसमय होजाय, भावना देना कहलाता है। लोहेका चुम्बकके नैकट्यसे चुम्बक बन जाना भावनात्मक यज्ञका दृष्टान्त है। भगवान जगतकी सृष्टि करके उसमें अनुप्रवेश कर गये। जगतके प्रत्येक तत्त्वमें इस प्रकार घुस गये कि जगत भगवत-विधानसे पूर्णरूपेण परिभावित हो गया। 'ईशावास्यमिदं सर्वम्'—जगतमें जो कुछ है, सब भगवानसे परिभावित है। वे सर्वत्र वर्तमान रहते हुए भी सबके माध्यमसे अपने-आपको प्रकाशित करनेमें व्यस्त हैं। सबको भगवत-भावसे परिभावित करना ही उनकी साधना है। इसका नाम है—भगवानका भावनात्मक यज्ञ। **वे यदि स्वयं अभिव्यक्त होनेके इच्छुक न हों तो किसकी क्षमता है जो उन्हें अभिव्यक्त कर सके।** हमारी भगवानको जानने-प्राप्त करनेकी जो प्रवृत्ति है, इसके मूलमें है भगवानकी आत्मप्रकाश करनेकी इच्छा। आँख-मिचौनी खेलना उनका स्वभाव है।

हमारा भावनात्मक यज्ञ होगा—पहले यह जानना कि भगवान किस प्रकार व्यष्टि भावसे हमारे प्रत्येक तत्वमें और समष्टि भावसे जगतके प्रत्येक तत्वमें प्रवेश कर, सब तत्वोंको अपने भावसे परिभावित कर, अपना कार्य करनेके इच्छुक हैं—यह रहस्य जानकर उस कार्यको उनकी इच्छानुसार सुसम्पन्न करना, उनकी लीलामें सहायक होना। हम अपने भीतर भावनाका ध्यान करते-करते, भगवानमें सम्पूर्णतः निमज्जित होकर, अपने प्रत्येक तत्वमें भगवानकी लीला-दर्शन कर, सब तत्वोंको भगवत्-भावसे परिभावित कर लेंगे। तब हमारे देह-मन-प्राण भगवानकी लीलाभूमिमें, प्रकृत वृन्दावनधाममें परिणत होजायेंगे। तब भगवानकी इच्छा पूर्ण करनेके सिवाय हमारे लिए और कोई कार्य नहीं रहेगा। हमारी मानसिक पूजा, अष्टकालीय लोकका चिन्तन भावनात्मक यज्ञमें सहायक हैं। वृन्दावनकी अधिष्ठात्री देवी श्रीराधा भावनात्मक यज्ञका परिपूर्ण दृष्टान्त हैं। वे कृष्ण-रसमें डूबकर, कृष्ण-रससे परिभावित होकर, भावनाके फलस्वरूप, कृष्णमयी हो गयी थीं। उनकी सब इन्द्रियोंके केन्द्र

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

श्रीकृष्णके शब्द-स्पर्श-रूप आदिसे इस प्रकार परिभावित हो गये कि उनके नेत्र कृष्णके रूपके अलावा और कुछ नहीं देख पाते थे, उनके कान कृष्णकी वंशी-ध्वनिके अलावा और कुछ नहीं सुन पाते थे, उनका मन कृष्णके विषयके अलावा और कुछ नहीं सोच सकता था। कृष्णगत-प्राणा श्रीराधा सम्पूर्णरूपेण कृष्णमयी हो गयी थीं। यज्ञका चिन्तन करते-करते यजमान यज्ञके भावसे ऐसा परिभावित हो जाता है कि वह स्वयं यज्ञमय पुरुषमें परिणत हो जाता है। तब यज्ञके रहस्य और तत्त्व उसके जीवनमें प्रतिफलित हो जाते हैं। उसका समस्त जीवन और सब कार्य यज्ञका रहस्य प्रचार करने लगते हैं।

सब तत्त्वोंमें, सब भूतोंमें, सब कार्योंमें भगवानकी लीलाका दर्शन, भगवत-लीलाकी अनुभूति भावनात्मक यज्ञका लक्ष्य है। इस यज्ञके फलस्वरूप ग्रह-उपग्रहकी गतिमें, सृष्टि-स्थिति-लयके व्यापारमें, षड्विध विकारोंके खेलमें, अनन्त सौन्दर्य-माधुर्यमें, शिशुकी क्रीड़ामें, युवतीके प्रेममें, माताके स्नेहमें, रक्तकी गतिमें, प्राणकी क्रियामें, विषय-ग्रहण आदि व्यापारोंमें भगवतलीला दर्शन करना ही भावनात्मक यज्ञका मुख्य कार्य है। तब 'विषयोपभोगरचना' पूजामें, शयन प्रणाममें, विहार प्रदक्षिणमें, आहार अन्ननिवेदनमें और सब कार्य भगवदाराधनामें परवर्तित हो जाते हैं।

सर्वत्र यज्ञ दर्शन—एक सर्वव्यापी विशाल ब्रह्मसत्ता किस प्रकार कारण रूपसे सब कार्यों, पदार्थों एवं नाम-रूपोंमें अनुप्रविष्ट-अनुस्यूत है—इसकी ज्वलन्त अनुभूति लाभ करना ही भावनात्मक यज्ञका लक्ष्य है। सब पदार्थोंमें ब्रह्मसत्ताका अस्तित्व एवं सब क्रियाओंमें ब्रह्मकी प्राणशक्ति, क्रियाशक्तिकी कर्तृत्वानुभूति (सर्वत्र प्राणप्रतिष्ठाका अनुशीलन) सर्वदा जाग्रत रखनेकी चेष्टा-का नाम ही भावनात्मक यज्ञ है। I am not the doer, the work is doen through me. छान्दोग्य और बृहदारण्यक उपनिषदोंने आश्चर्य कौशल द्वारा सकाम द्रव्यात्मक यज्ञको निष्काम भावनात्मक यज्ञमें पर्यवसित किया है और यह तत्त्व बताया है कि सब वस्तुएँ एक ब्रह्मकी महिमा या विभूति हैं। यज्ञकी उपास्य अग्निमें, यज्ञीय मंत्रोंमें, सामगानमें, यज्ञके उपकरणोंमें सर्वत्र एक प्राण-शक्तिकी क्रिया अनुभव करनेका आदेश है। वैदिक ऋषिगण आकाशके नक्षत्रोंमें,

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

चन्द्र-तारिकाओंमें, वृष्टि-बादलोंमें, नदीके प्रवाहमें, वायुकी गतिमें, आगकी गरमीमें, पक्षीके गानमें, बालकोंकी हँसीमें, फूलकी शोभामें, इत्यादि सर्वत्र सामगान सुननेके अभ्यस्त थे। वे सर्वत्र यज्ञका दर्शन कर यज्ञेश्वरको ढूँढ़-निकालनेकी चेष्टा करते थे। सूर्य, अग्नि, आदि देवगण भी उसी एक प्राण-शक्तिकी क्रियाका परिचय देते हैं—उद्देश्य था सब वस्तुओंके एक मौलिक एकत्व, सर्वत्र अद्वैतानुभूतिको जाग्रत रखना। सूर्य-चन्द्रादिको एक विराट चैतन्यके अवयव रूपमें, हमारे चक्षु-कर्णादि आध्यात्मिक अंगोंको उनके अंश-रूपमें, उनके साथ अभेदरूपमें चिन्तन करनेका उपदेश दिया गया है।

अंगन्यास आदि तत्त्व यही रहस्य प्रचार करते हैं। इसके फलस्वरूप व्यष्टि देह, व्यष्टि भाव अन्तर्हित हो जाता है और एक सुन्दर विश्वरूप जाग उठता हैं। तब यह विश्व भी विराट पुरुषका अंग प्रतीत होता है। स्वतंत्रताका भाव दूर हो जानेके कारण असुर भावके बदले देवभावका स्फुरण होता है। जो प्राणशक्ति आधिदैविक सूर्यादिमें समष्टि भावमें अभिव्यक्त है—वही प्राणशक्ति व्यष्टि देहकी चक्षुरादि आध्यात्मिक इन्द्रियोंमें अभिव्यक्त है—यह तत्त्व प्रकाशित होकर असीम और ससीमके बीचका भेद दूर हो जाता है और एक सुन्दर देवभाव उत्पन्न होता है। व्यस्त-समस्त होम इस भावकी उपलब्धिमें सहायक है। सर्वत्र ब्रह्मकी लीलाकी उपलब्धि करना ही भावनात्मक यज्ञका उद्देश्य है। हम एक ब्रह्मसागरमें डूबे हुए, ब्रह्मरस हमारे भीतर प्रवेश कर हमें ब्रह्मभावसे परिभावित करनेमें सचेष्ट है। ब्रह्मरसको किस प्रकार अपने प्रत्येक तत्त्वमें कार्य करने दिया जाय, यही था भावनात्मक यज्ञका उद्देश्य।

भावनात्मक यज्ञ और प्रतीक उपासना—वेदान्तकी प्रतीक उपासना भी भावनात्मक यज्ञकी महिमा प्रकाशित करती है—प्रतीक माने प्रतिमूर्ति, अंग, अवयव। निकृष्ट पदार्थमें उत्कृष्टके आरोप द्वारा साधन करते-करते, कार्य वर्गमें कारण सत्ताकी (सर्वकारणकारणम्) अनुभूति दृढ़ हो जाती है। 'ब्रह्मदृष्टि-रुत्कर्षात्'—वेदान्त दर्शनके इस सूत्रमें हमें इसका आभास मिलता है। देहके पंचकोषमें, देहके प्रत्येक तत्त्वमें, ब्रह्मानुभूति लाभ हो जानेपर तब प्रतीककी जरूरत नहीं रहती। तब सब अवलम्बन एक ब्रह्मसत्तामें पर्यवसित हो जाते हैं।

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

कार्यवर्गकी कोई पृथक् सत्ता नहीं है, सब एक कारण सत्तामें जाकर पर्यवसित हो जाते हैं। (द्रष्टव्य, कोकिलेश्वर भट्टाचार्यका 'उपनिषदेर उपदेश')

भावनात्मक यज्ञके फलस्वरूप सत्यप्रतिष्ठा और प्राणप्रतिष्ठाका उद्देश्य सफल हो जाता है। सब तत्त्वोंमें एक ब्रह्मसत्ता एवं सब कार्योंमें एक ही प्राण-शक्तिकी क्रिया उपलब्ध होती है। भावनात्मक यज्ञकी साधन-प्रणालीमें इस तत्त्वकी सुन्दर रूपसे उपलब्धि होती है।

(१) **सृष्टि आदि व्यापारमें यज्ञ-भावना**—चिन्तन करना चाहिए कि एकही सगुण ब्रह्म अथवा प्राणशक्तिने विभिन्न छन्दों, विभिन्न तालोंमें स्पन्दित होकर किस प्रकार सब आधिदैविक, आध्यात्मिक और आधिभौतिक पदार्थोंको सृष्ट किया। चक्षु, कर्ण, वाक्य, मन आदि आध्यात्मिक इन्द्रियाँ आधिदैविक सूर्य, यम, अग्नि, चन्द्र आदिके रूपान्तर मात्र हैं। अर्थात् आधिदैविक शक्तियाँ ही जीवकी देहमें इन्द्रियरूपमें अभिव्यक्ति हैं। अनुभव करना होगा कि एक ही प्राणशक्ति ग्रह-उपग्रहादिमें, आधिभौतिक इन्द्रियादिमें, आध्यात्मिक एवं आधिभौतिक सब पदार्थोंमें परिणत और लीलारत है। श्री भगवान प्राण रूपमें, चन्द्र, अग्नि, वायु, जल, वृक्ष-लता, पशु-पक्षी, आदिमें स्थित हुए किस प्रकार हमारा कल्याण कर रहे हैं, हम इनके कितने कृतज्ञ हैं—इस उपकार-प्रत्युपकारके रहस्यका चिन्तन करनेका आदेश है।

(२) **प्रकृतिके सब कार्योंमें यज्ञ-भावना**—भगवानने यज्ञके संग जगतकी सृष्टि की ('सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा'—गीता ३।१०)। उनके यज्ञमें विराम नहीं है। इसीलिए जीवजगत भी यज्ञ किये बिना नहीं रह सकता। देवता, ऋषि, पितर, मनुष्य, पशु-पक्षी, ग्रह-उपग्रह, आकाश, वायु, अग्नि, जल, नद-नदी, इत्यादि समस्त भूत अपना-अपना निर्धारित यज्ञ करनेको बाध्य हैं। भावनात्मक यज्ञ हमें बताता है कि सब कार्य भगवानके पाससे आ रहे हैं और फिर भगवानमें ही जाकर लीन हो रहे हैं। इस लीलाकी अनुभूति भावनात्मक यज्ञका उद्देश्य है।

(३) **सर्वभूतमें यज्ञ-भावना**—आत्मीय-स्वजन, बन्धु-बान्धव, कृषक-मजदूर, शत्रु-मित्र, आदि सब प्राणियोंके भीतर-बाहर बैठे भगवान कितने रूपमें,

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

कितने भावोंमें, हमारी सेवा कर रहे हैं, हम किस प्रकार इनका प्रत्युपकार करें, इस चिन्तनके द्वारा भावनात्मक यज्ञका अनुशीलन करनेकी व्यवस्था है।

(४) द्रष्टा-दृश्य-दर्शनमें यज्ञ-भावना एवं अपने भीतर यज्ञ-दर्शन—हमारे चक्षुरादि इन्द्रिय भगवानने सृष्ट किये हैं, वे ही दृश्य विषय रूपमें हमारी तृप्तिके लिए हमारे सामने उपस्थित हैं एवं हमारे सामने भीतर बैठे विषय ग्रहण कर रहे हैं। वे ही हमारी आँखोंसे देख रहे हैं, मनसे चिन्तन कर रहे हैं, हम किस उपायसे उन्हें तृप्त करें, उनकी इच्छा पूर्ण करें, सब कार्योंमें कैसे उनकी उपलब्धि करें—यह अनुभूति लाभ करना भावनात्मक यज्ञ है। द्रष्टा, दृश्य, दर्शनमें भी यज्ञकी भावना करनी होगी।

(५) श्वास-प्रवासमें यज्ञ-भावना—एकही प्राणशक्ति कहाँसे कैसे हमारे श्वास-प्रश्वासके भीतरसे यातायात कर हमें जीवित रखे है, इन सब कार्यों द्वारा किस प्रकार उनकी इच्छा सफल हो रही है, इस तत्त्वका अनुचिन्तन भावनात्मक यज्ञ है। जपयज्ञ भावनात्मक यज्ञके अन्तर्गत है। हमारे श्वास-प्रश्वासके संग प्राणवायु किस प्रकार परा अवस्थासे आती है, पश्यन्ती-मध्यमा-वैखरीमें होकर बाहर निकल जाती है—कूटस्थमें बैठकर यह तत्त्व उपलब्धि करनेकी व्यवस्था है। अजपाजप इसीके अन्तर्गत है।

(६) भोजनादि व्यापारमें यज्ञ-भावना—भोज्यरूपमें हमारे सम्मुख कौन हैं? किसकी शक्तिसे यह आये हैं, कौन हमारे भीतर बैठे भोजन कर रहे हैं, कौन इन भुक्त पदार्थोंको रक्त-वीर्य-ओजस और सुधामें परिणत कर हमारे सब तत्वोंको आप्यायित कर रहे हैं, किस प्रकार हमारा प्रत्येक ग्रास अन्न प्राणके निकट, भगवानके निकट, आहुत हो सकता है अर्थात् हमारे मुखमें बैठे वे ही आहार कर रहे हैं—इस तत्त्वकी उपलब्धि करना भी भावनात्मक यज्ञ है। पंचाग्नि विद्यामें हम इस तत्वकी उपलब्धि कर सकते हैं। हमारी आहार क्रिया द्वारा भुक्त द्रव्य जो रस, रक्त, वीर्य, ओजस और सुधामें परिणत हो जाता है—यह इसी यज्ञका फल है। सात्विक अन्न और सात्विक भावसे भोजन इस परिणतिमें सहायक है। हमारे सब आदान-प्रदानके माध्यमसे एक महान यज्ञ हो रहा है, इसकी उपलब्धि करनी होगी।

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

(७) **अन्तर्यामी भावमें यज्ञ-भावना**—वे हमारे भीतर बैठे हमें जीवित रहनेकी, सुखी करनेकी, आनन्दधाममें लेजानेकी कितने प्रकारसे चेष्टा कर रहे हैं, यह तत्व उपलब्ध कर अपने जीवनको उत्तम बनाना और उनका प्रिय कार्य करनेकी चेष्टा करना भी यज्ञ है।

(८) **कर्तृत्वाभिमानके त्यागमें यज्ञ-भावना**—हमारे भाव, वचन और कर्मके द्वारा कौन आत्मप्रकाश कर रहे हैं, हमारे किस प्रकार जीवन चलानेसे उनका आत्मप्रकाश सहज, सुन्दर और स्वाभाविक होगा, इसका अनुचिन्तन भावनात्मक यज्ञ है। हमारा देखना चक्षुके माध्यमसे उनका प्रकाश है, हमारा सुनना कानोंके भीतरसे उनका प्रकाश है, हमारे सब कार्य कर्मेन्द्रियोंके भीतरसे उनके प्रकाशके सिवाय और कुछ नहीं हैं, हमारा प्रेम और आनन्द चित्तके भीतरसे उनका प्रकाश है, हमारे देहस्थ यंत्र उन्होंने ही सृष्ट किये हैं, उनकी लीलाके उपकरण हैं—यह तत्त्व हृदयंगम कर सम्पूर्णतः निरहंकार होनेकी चेष्टा करना भी भावनात्मक यज्ञ है। वे ही एकाधारमें यंत्र और यंत्री रूपमें लीलारत हैं, यह तत्व हृदयंगम करना होगा।

(९) **वाल्य-यौवन-वार्द्धक्य-मृत्युमें यज्ञ-भावना**—हमारे (वाल्य-यौवन-वार्द्धक्य) शरीरके परिवर्तनमें, यहाँ तक कि मृत्युमें भी कौन हमें हाथ पकड़ कर ले जा रहे हैं—इसकी अनुभूति लाभ करना एवं जिससे हमारी गति पूर्णरूपेण भगवत-प्राप्तिमें सहायक हो, इसकी चेष्टा करना भी भावनात्मक यज्ञके अन्तर्गत है।

(१०) **जाग्रत-स्वप्न-सुषुप्तिमें यज्ञ-भावना**—जाग्रत अवस्थामें विषयका ग्रहण, स्वप्नमें उसका अनुचिन्तन, सुषुप्तिमें आनन्दकी अनुभूति, प्राण-मनकी आत्मामें आहुति—इसमें भी यज्ञकी भावना करनी होगी। अर्थात् विषयरूपमें भगवान हैं एवं विषयके गृहीता रूपमें भी भगवान हैं—यह तत्व आस्वाद करना होगा।

(११) **इन्द्रियोंके विषय-ग्रहणमें यज्ञ-भावना**—शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध सब विषय उन्हींसे आये हैं और इन्द्रियोंके अधिष्ठाता रूपमें वे ही इन्हें ग्रहण कर रहे हैं—यह अनुभूति लाभ करनेकी चेष्टा भावनात्मक यज्ञ है। इन्द्रियोंके

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

विषयग्रहणमें, प्राणाग्निमें हवनका चिन्तन करते-करते सब प्राकृतिक ऐश्वर्य और क्रियाएँ ब्रह्मोपासनामें पर्यवसित हो जायँगी। दहर विद्यामें हम हृदयमें स्थिर होकर सर्वदा ब्रह्मकी लीला-दर्शन करनेकी योग्यता लाभ करते हैं। तब सब कार्य पारमार्थिक कारण तत्त्वमें लीन हो जाते हैं। तब कंगन-कुण्डल देखकर सुवर्णका बोध होगा—कार्य देखकर केवल कारण सत्ता याद आयेगी।

(१२) **नाम-रूपका ब्रह्मसत्तामें पर्यवसान यज्ञ-भावना है**—नामरूपात्मक सृष्टि ब्रह्मसत्ताका विवर्तन है, ब्रह्मसत्तामें स्थित है और ब्रह्मसत्तामें ही इसका पर्यवसान है—यह अनुभूति लाभ करनेकी चेष्टा यज्ञके अन्तर्गत है।

(१३) प्रतीकका अवलम्बन कर ब्रह्मतक पहुँचनेकी चेष्टा एवं प्रकृत अहंतत्त्वका अनुसन्धान भावनात्मक यज्ञ है।

(१४) सब पदार्थोंको,स्त्री-पुत्र-परिवारको, ब्रह्मकी महिमा अथवा विभूति, उनकी लीलास्वीकृत विग्रह रूपमें अनुभव करनेकी चेष्टा भी यज्ञ है। विश्वकी समस्त वस्तुएँ ब्रह्मके विशेषण हैं और ये विशेषण हमें मूल विशेष्य ब्रह्मवस्तुके निकट ले जानेकी चेष्टा कर रहे हैं—यह अनुभूति भी भावनात्मक यज्ञ है।

(१५) यज्ञकी अग्नि, यज्ञीय उपकरण द्रव्य, यज्ञीय मंत्र, यज्ञसाधक होता—इन सबमें ब्रह्मकी भावना करनी होगी। 'ब्रह्मार्पणं ब्रह्महविः' (गीता ४।२४) मंत्रकी उपलब्धि करनी होगी। ब्रह्म ही मानो लीला करनेके लिए ये सब रूप धारण कर हमारे सम्मुख आये हैं। हमारे भीतर द्रष्टारूपमें वे ही हैं।

(१६) ऋग्वेदमें सब देवताओंको कार्य और कारण (Cause and Effect) द्विविध रूपमें वर्णना की गयी है। कार्यरूपका अवलम्बन कर कारणरूप में जानेका आदेश दिया गया है। कारणरूप बिष्णुका परमपद, कार्यरूप उनका अर्थ या बहिःप्रकाश है। पदार्थका अवलम्बन कर परमपदमें जानेकी चेष्टा भावनात्मक यज्ञ है। हम यह जो जगत देखते हैं, यह कार्य है—इसके कारण-रूपमें एक अखण्ड ब्रह्मसत्ता सब पदार्थोंमें स्थित हुई सब कर रही है—यह अनुभूति लाभ करना भावनात्मक यज्ञ है। सत्यप्रतिष्ठा और प्राणप्रतिष्ठा भावनात्मक यज्ञकी महिमा कीर्तन करते हैं। सब अस्तित्व ब्रह्मसे आये हैं और ब्रह्ममें जाकर पर्यवसित हो रहे हैं। एक अविभक्त सत्ता सब विभक्तियोंके माध्यमसे आत्मप्रकाश

Prof. Madhav Prasadd Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

कर रही है और सब उसी एक अविभक्त तत्व में लीन हो रहे हैं—यह तत्व हृदयंगम करना ही भावनात्मक यज्ञ है।

केवलात्मक यज्ञ—जैसे द्रव्यात्मक यज्ञ उपयुक्त अनुशीलनके फलस्वरूप स्वतः भावनात्मक यज्ञमें पर्यवसित हो जाता है, उसी प्रकार भावनात्मक यज्ञ भी सब पदार्थों में सब कार्योंमें, एक मूल कारण सत्ताकी लीला-दर्शन कराके, अद्वैत ब्रह्मसत्ताकी ओर ले जाता है।

यजुर्वेदमें द्रव्यात्मक यज्ञकी प्रधानता है। सामवेदमें भावनात्मक यज्ञके तत्व-का प्रसार है। ऋग्वेद केवलात्मक यज्ञमें विभोर है।

"एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति"—एक ही भगवान स्वयं सब बने बैठे हैं, उनको छोड़कर कोई नहीं है और कुछ नहीं हैं, सब उनकी लीला-स्वीकृत विग्रह हैं—केवलात्मक यज्ञमें हम यह तत्त्व आस्वाद करते हैं। यहाँकी आहुतिका मुख्य मंत्र है—"ब्रह्मार्पणं ब्रह्महविः" (गीता ४।२४)।

यहाँ हम आस्वाद करते हैं—"सर्वं खल्विदं ब्रह्म"। वे ही जीव रूपमें परिणत या विवर्तित हैं। परिणति अथवा विवर्तनका जो उल्लेख किया जाता है, वह केवल हमारी अनुभूतिके लिए। असलियतमें तो 'एकमेवाद्वितीयम्'—उनके सिवाय और कुछ है ही नहीं। सार तत्त्व वाक्य-मनके अगोचर है। इस तत्त्वमें पहुँचा देनेके लिए ही यज्ञकी व्यवस्था है। यज्ञ, पूजा, साधना, आराधना-उपासना, सबके मूलमें एकही तत्त्व है। केवलात्मक यज्ञमें सब ब्रह्मरूपमें अनुभूत होता है। 'इदं' (जो कुछ दृश्य है) 'सर्वं' (वह सब) 'ब्रह्म' है। 'इदं' जब लुप्त होकर 'अहं' में पर्यवसित हो जाता है, तब भाषा नहीं रहती। तब साधक राधारानीकी भाँति भगवत्-भावमें विभोर हो जाता है। यही सिद्ध अवस्था है। इस अवस्थाका इस प्रकार वर्णन किया गया है—

सम्पूर्णं जगदेव नन्दनवनं सर्वेऽपि कल्पद्रुमा
गांगं वारि समस्तवारिनिवहाः पुण्याः समस्ताः क्रियाः।
वाचः प्राकृतसंस्कृताः श्रुतिशिरो वाराणसी मेदिनी
सर्वावस्थितिरस्य वस्तुविषया दृष्टे परब्रह्मणि॥

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

आत्मा त्वं गिरिजा मतिः सहचराः प्राणाः शरीरं गृहम्
पूजा ते विविधोपभोगरचना निद्रा समाधिस्थितिः।
संचारः पदयोः प्रदक्षिणविधिः स्तोत्राणि सर्वा गिरो
यद् यत् कर्म करोमि तत्तदखिलं शम्भो तवाराधनम्॥

द्रव्यात्मक यज्ञ शुद्धि-प्रधान है। भावनात्मक यज्ञ भक्ति-प्रधान है—साधन भजन, ध्यान, धारणाके अनुकूल है। केवलात्मक यज्ञ ज्ञान-प्रधान है—यह सिद्ध पुरुषकी अनुभूति है। यज्ञ में भावनात्मक यज्ञकी ही प्रधानता है। साधक जब सम्पूर्णतः शुद्ध होकर भगवत-ध्यानमें विभोर हो जाता है, तब उसके सब तत्त्व भगवत-भावसे परिभावित हो जाते हैं। तब वह स्वयं भगवत-भावसे परिभावित होकर, प्रत्येक पदार्थमें, प्रत्येक तत्त्वमें, प्रत्येक कार्यमें भगवानकी लीला-दर्शन कर भगवन्मय हो जाता है।

पंच महायज्ञ

प्राचीन कालमें वैदिक अनुष्ठान यज्ञों एवं सामाजिक आचार–व्यवहारोंके ऊपरसे अनेक आँधी-तूफान गुजरे हैं। प्राचीन यज्ञ एक अति उन्नत धर्मानुष्ठान था, लेकिन कालके प्रभावसे उसमें बहुत मलिनता आ गयी है, यह अस्वीकार नहीं किया जा सकता। इस आगन्तुक मलिनताको दूर करनेकी और यज्ञका प्रकृत स्वरूप निर्णय करनेकी भी यथेष्ट चेष्टा की गयी। भगवान बुद्धके जन्मके पूर्व अनेक क्रियाकाण्ड केवल एक बाह्य शुष्क अनुष्ठानमें पर्यवसित हो गये थे और यज्ञोंमें नानारूप हिंसाका भाव आ गया था। करुणाके अवतार भगवान् बुद्धने यज्ञादि अनुष्ठानोंके विरुद्ध युद्ध घोषित किया। उन्होंने लोगोंको समझाया कि साधना-तत्त्व मानसिक संयम और शुद्धिका व्यापार है। यह शुष्क बाह्य अनुष्ठानमें पर्य-वसित होनेकी चीज नहीं है। तबसे संयम, स्वार्थत्याग, सेवाधर्म यज्ञरूपमें ग्रहण किये जाने लगे। क्रमशः श्रौतयज्ञ लुप्तप्रायः हो गया और पंचमहायज्ञ समाजमें प्रतिष्ठित हुआ। तबसे ऋणशोधात्मक कर्म और जीवसेवा प्रधान यज्ञ माने जाने लगे।

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

महाभारत और स्मृतिशास्त्रमें पंचमहायज्ञका विशेष उल्लेख पाया जाता है। अनेक श्रेष्ठ साधक पंडितोंका मत है कि पंचयहायज्ञके नित्य अनुष्ठानसे सब यज्ञोंका मूल उद्देश्य अल्पाधिक परिमाणमें प्रतिपालित हो जाता है।

अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः पितृयज्ञस्तु तर्पणम्।
होमो दैवबलिर्भूतो नृयज्ञोऽतिथिपूजनम्॥

(१) **ब्रह्मयज्ञ अथवा ऋषियज्ञ**—जो ऋषिगण और पंडितगण ज्ञानके नये-नये तत्त्व आविष्कार कर गये हैं, ज्ञानकी उन्नति कर गये हैं, उस ज्ञानका बहुल प्रचार कर एवं उनके प्रदर्शित पथका अनुसरण कर, उन महापुरुषोंकी श्रद्धा और पूजा करनी होगी। जैसे हमने उनसे ज्ञान प्राप्त किया है, उसीप्रकार जिससे और लोग भी वह ज्ञान प्राप्त कर सकें और सबकी समवेत चेष्टाके फलस्वरूप ज्ञानकी उत्तरोत्तर वृद्धि हो, उसकी चेष्टा करनी होगी। उन ऋषियोंका श्रद्धासहित स्मरण कर और भगवानसे उनके लिए प्रार्थना कर, हम ऋषि-ऋणसे मुक्त होते हैं।

(२) **पितृयज्ञ**—श्राद्ध, तर्पण और सुसन्तान उत्पन्न कर, वंशके गौरवकी रक्षा और वृद्धि कर, हम पितृऋणसे मुक्ति लाभ करते हैं। श्राद्ध और तर्पण द्वारा हम पितृपुरुषोंको स्मरण कर, उनकी आत्माके कल्याणके लिए भगवानसे प्रार्थना कर एवं दीनदुखियोंको भोजन, दान, दक्षिणा द्वारा तृप्त कर, पितरोंकी तृप्ति-विधान करते हैं। सुसन्तान उत्पन्न कर, उन्हें सत्-शिक्षा प्रदान कर, वंशके गौरवकी रक्षा कर, हम पितरोंका आनन्द-वर्धन करते हैं। माँ-बापके ऋणसे तो हम किसी प्रकार भी उऋण नहीं हो सकते, तब भी उनके प्रति कृतज्ञ रहना और भगवानसे उनकी सुख-शान्तिके लिए प्रार्थना कर, उनकी सेवा-सहायता कर हम कुछ थोड़ी-सी मात्रामें उनका ऋण शोध कर सकते हैं। यह सब कार्य श्राद्ध और तर्पणके अन्तर्गत हैं।

(३) **दैव यज्ञ**—देवता भगवत्-प्रतिबिम्ब हैं, प्रकृतिके विभिन्न तत्त्वोंमें अधिष्ठित भगवत्-चैतन्य हैं। हमारी व्यष्टिदेहके प्रत्येक तत्त्वमें एवं जगतके सब तत्त्वोंमें भगवत्-चैतन्य किसप्रकार लीलारत है, यह जानकर और जिससे सब तत्त्व पूर्णरूपेण शक्तियुक्त होकर अपना-अपना कार्य कर सकें, इसकी चेष्टा

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

कर हम देवताओंकी तृप्ति-विधान करते हैं। तब देवगण भी तृप्त होकर, हमारे सब तत्त्वोंको आप्यायित कर, हमारा कल्याण करनेमें समर्थ होते हैं। याद रखना होगा कि देवगण समष्टिभूत जगतके विभिन्न तत्त्वोंमें अधिष्ठित भगवत्-चैतन्य हैं। उनके व्यष्टिगत भावसे हमारे देहस्थ विभिन्न तत्त्व उत्पन्न हुए हैं, जैसे सूर्यसे हमारी आँख, चन्द्रसे मन, इत्यादि। समष्टिका कल्याण करनेसे व्यष्टिगत जीवका कल्याण स्वतः हो जाता है। वैदिक ऋषि दिखा गये हैं कि हवन आदि क्रियासे समष्टिभूत चैतन्य देवताओंका अभाव पूर्ण होता हैं और वे तृप्ति-लाभ करते हैं। देवगण तृप्त होकर हमारा कल्याण करनेमें तत्पर होते हैं। सूर्यको तृप्त करनेसे हमारी आँखकी दृष्टिशक्ति वर्धित होती है। यज्ञीय धूम और भाप सूर्यकी किरणोंके साथ मिलकर वृष्टि उत्पन्न करते हैं। आयुर्वेदानुसार हवनीय द्रव्य एवं काष्ठ विषनाशक, वायुशोधक एवं पृथिवीकी उर्वरताके सम्पादक हैं। विज्ञानके अनुसार यज्ञीय भाप मेघमें विद्युत उत्पादन कर वर्षामें सहायक होती है। सुतरां दैवयज्ञ देवताओंकी अन्तर्निहित कर्मशक्तिको वर्धित कर हमारे स्वास्थ्य, आयु और सुखकी वृद्धिमें सहायक है।

(४) **भूतयज्ञ**—प्राचीन ऋषि जीवमात्रको वेश धारण किया हुआ शिव मानते थे। हम सब जीवोंके विशेष रूपसे कृतज्ञ हैं—यह तत्त्व उन्होंने हृदयंगम कर लिया था। इसलिए पशु-पक्षी, वृक्ष-लता, आदि सबकी सेवा भगवानकी सेवाके अन्तर्गत हैं, इससे भगवान तृप्ति-लाभ करते हैं।

(५) **नृयज्ञ**—स्वधर्मपालन द्वारा अपनी, देशकी और सर्वजीवकी उन्नति और शान्तिमें सहायक होना। नृयज्ञ असलमें जीवसेवा है। अतिथि-सेवाको नृयज्ञ कहा गया है।

सारांश—हम एक-दूसरेकी सहायताके बिना किसी प्रकारकी उन्नति नहीं कर सकते—जीवित भी नहीं रह सकते। इसलिए हम सबके ऋणी हैं। जिनके द्वारा हम उपकृत हैं, उनका कल्याण करना हमारा एकान्त कर्तव्य है। ऋषियज्ञ-के अभावसे हमारा ज्ञान कूपबद्ध, उन्नतिहीन, श्रीहीन हो गया है। हम केवल संस्काराच्छन्न अन्धके न्याय चालित हैं। पितृयज्ञके अभावसे हम सभ्यताके आदर्श ऋषियोंकी सन्तान होते हुए भी आज सभ्यसमाजमें अपने वंशका परिचय

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

देनेमें कुण्ठित और लज्जित बोध करते हैं। दैवयज्ञके अभावसे हम स्वास्थ्यहीन, आयुहीन, अर्थहीन, व्याधि-दुखकी आवासभूमि हो गये हैं। भूतयज्ञके अभावसे हम दही-दूध-घी-अन्नादिकी कमीके कारण दुर्बल, अल्पायु और स्वधर्म-पालनमें असमर्थ हैं। नृयज्ञके अभावसे हम स्वार्थप्रिय, चिन्ता, भय, हताश भावगे परिपूर्ण हैं।

ऋषियज्ञ अब केवल अर्थकरी विद्या-उपार्जन हो गया है। पितृयज्ञ अब कुलीनोंके हिंसा-द्वेष एवं आडम्बर-पूर्ण श्राद्धादिमें पर्यवसित है। दैवयज्ञ लोगोंकी दिखानेकी बाह्य पूजा रह गयी है। धनियों और पदाधिकारियोंको तुष्ट करना आजकलका नृयज्ञ है। भूतयज्ञ कुत्ते और जानवरोंके (Pet animals) पालनेमें रह गया है।

पुरुषमेध और नरमेध यज्ञ

पुरुषमेध और नरमेध समझनेके लिए जानना होगा—'पुरुष' किसे कहते हैं, 'नर' किसे कहते हैं और 'मेध' का अर्थ क्या है। 'पुरुष'—जो पुरीमें समष्टिदेहमें शायित, अवस्थित, लीलारत हैं। 'नर'—जो व्यष्टिदेहमें अवस्थित है, कर्तापन-भोक्तापनके अभिमानसे युक्त होकर कर्मफल भोगता है। पुरुष कर्म करते हैं स्वरूपमें रहकर, 'आनन्द प्राचुर्यात'। नर कर्म करता है स्वरूप-विस्मृत होकर 'अभावात्'। 'मेध' शब्द 'मिध' धातुसे बनता है। 'मिध' का अर्थ है वध करना, वध्य होना, धारणाशक्ति—जो विकृतिमें भी प्रकृत स्वरूपको धारण करके रहती है, विस्मृत नहीं होने देती एवं जो विभक्तिमें, अविभक्तमें भाव ठीक रखते हुए पुनः स्वरूप-प्रतिष्ठत होनेमें सहायक होती है। अर्थात् 'मेध' उस क्रियाका नाम है जो पहले तो अविभक्तको लीलाके हेतु होता, हवनीय द्रव्यादि रूपमें विभक्त हुआ-सा दिखाती है और बादको आहुतिकी क्रिया द्वारा फिर उसके अविभक्त स्वरूपकी उपलब्धि करा देती है। यज्ञ द्वारा यह कार्य साधित, होता है, इसलिए जटाधरने 'मेघ' का अर्थ 'यज्ञ' उल्लेख किया है—'मेधः यज्ञः इति जटाधरः'। इसलिए 'पुरुषमेध' शब्दका अर्थ हुआ पुरुषका, भगवानका,

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

अपनेको स्वयं जाननेके लिए, आस्वाद करनेके लिए, सबको आस्वाद करानेके लिए, एक आत्मविस्मृतिका भान—अर्थात् अपने एकत्वको भूलकर; अपने स्वरूप-को त्याग कर, बहुका वेश धारण कर, त्रिपुटीके माध्यमसे, सब विभक्तियों द्वारा जीव-जगतरूपमें परिणति या विवर्तन–Paradise Lost. 'नरमेध' शब्दका अर्थ होगा नरका, जीवका, भीतरकी सब आगन्तुक मलिनता दूर कर, हवन क्रियाके द्वारा द्वैतभावकी शिवमें आहुति देकर, अपने प्रकृत अद्वैत स्वरूपकी उपलब्धि करना—Paradise Regained. इसके फलस्वरूप जीवजगत ब्रह्ममें पर्यवसित हो जाता है। तब जीव शिवकी लीलामें सहायक होता है, शिवका लीलातत्व समझनेकी योग्यता लाभ करता है। वेदके पुरुषसूक्तमें हमें पुरुषमेधका आभास मिलता है। वहाँ बताया गया है कि एक अखण्ड अद्वय पुरुष अनन्त भागोंमें विभक्त होकर जीवजगतरूपमें परिणत या विवर्तित हो गये। जीवके साध्य अश्वमेधादि यज्ञोंमें भी जीवका बहुत्व भाव दूर कर स्वधर्म-पालन द्वारा एक अखण्ड अद्वय तत्त्व आस्वाद करनेकी व्यवस्था है। शतपथ ब्राह्मणमें अश्वमेध यज्ञ ब्राह्मणके लिए निर्दिष्ट है—'अश्नाति व्याप्नोति विश्वं इति अश्वः'। अर्थात् ब्राह्मण सर्वव्यापी भगवानका सर्वभूतमें दर्शन, ध्यान और सेवा कर अश्वमेधका फल लाभ करते थे। क्षत्रियोंको—'राष्ट्रं वै अश्वः' वाक्यमें, प्रजापालन कर अश्वमेधका फल लाभ करनेको कहा गया है। इसी प्रकार वैश्यका स्वधर्म कृषि-गोरक्षा-वाणिज्य एवं शूद्रका सेवात्मक स्वधर्म-पालनको भी अश्वमेघ यज्ञ बताया गया है।

रसिकशेखर आनंन्दमय श्री भगवान अपने आनन्द में इतने विभोर हुए कि उस आनन्दको अपने भीतर सम्भाल नहीं सके और कुछ आनन्द ऊपरसे उफन कर बाहर आगया। इसी का नाम हुआ 'सृष्टि'। चूंकि ऊपर से उफन कर बाहर आया, इसलिए सृष्टिको 'वृद्धि' भी कहा गया हैं—नामरूपसे युक्त हो जाना। हमारे लीलामय श्री भगवान 'आनन्द प्राचुर्यात' मायाका वेश धारण कर आँखमिचौनी खेलने लगे। उन्होंने ऐसा क्यों किया, इसे वे ही जानते हैं अथवा जिसे उन्होंने जना दिया, वह जानता है। दार्शनिक भाषामें निर्गुण निष्क्रिय अव्यक्त अनिर्वचनीय असीम निराकार परमात्माको सगुण सक्रिय

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

व्यक्त विभक्त ससीम साकार रूपमें परिणति या विवर्तनका नाम है 'सृष्टि'। इसीका नाम है 'पुरुषमेध' यज्ञ। इस यज्ञके द्वारा वे स्नेहवश जीवके ग्राह्य और आस्वाद्य हो गये। जिस प्रकार यह जगत सृष्ट हुआ है, जिस प्रकार जगत चल रहा है और जिस प्रकार यह जगत जाकर फिर उनमें लीन हो जायगा—यह सब लेकर ही उनका यज्ञ है। इस यज्ञमें विराम नहीं है।

जीवका यज्ञ भगवानके यज्ञका अनुकरण है। एक महान जगत्व्यापी यज्ञ चल रहा है—आत्मत्यागका भाव, अपनेको उत्सर्ग करना। पुरुष अथवा भगवानने सर्वप्रथम यह यज्ञ आरम्भ किया–अपनेको प्रकाशित करनेके लिए, अपना आनन्द आस्वाद करानेके लिए—'आनन्दप्राचुर्यात्'। चूँकि भगवानने यज्ञ आरम्भ किया, इसलिए समस्त जगत–ब्रह्मा, विष्णु, शिवसे लेकर प्रत्येक परमाणु तक–यज्ञ करनेको बाध्य है। बाध्य होकर यज्ञ करनेसे यह हो जाता है बन्धन और स्वेच्छापूर्वक 'आनन्दप्राचुर्यात' करनेसे यह होता है मुक्तिका कारण—लीला। पुरुष करते हैं यज्ञ और जीव करता है कर्मभोग। इस कर्मभोगको यज्ञमें परिणत करना, जीवके कर्मको शिवके कर्ममें परिणत करना 'नरमेध' यज्ञका उद्देश्य है। पुरुषमेधको भगवत-विधानको जानकर उसके अनूकूल कर्म करने से नरमेध यज्ञ साधित हो जाता है। तब नरका कर्म शिवका कर्म हो जाता है। असली यज्ञ अथवा साधनभजन करते हैं श्री भगवान और जीव करता है उनकी नकल। किन्तु जीव अपने कर्ममें कर्तापनका अभिमान रखना चाहता है, इसलिए बन्धनमें फँस जाता है। आँखमिचौनीके खेलमें एक जन छिप जाता है, और दूसरे उसको ढूँढ निकालनेकी चेष्टा करते हैं। भगवान छिप गये, लेकिन उनकी अपनेको प्रकाशित करनेकी इच्छा है। इसीलिए जीवका उनको ढूँढ निकालना सम्भवपर है—'Seek and you will find'. निराकारका आकार-ग्रहण, निर्गुणका सगुण रूपमें आत्मप्रकाश 'पुरुषमेध' यज्ञ है और जीवका आकारके भीतरसे निराकारको ढूँढ निकालना, सगुणके भीतरसे निर्गुणको धर लेनेकी चेष्टा करना 'नरमेध' यज्ञ है।

जगतमें दो क्रियाएँ दृष्ट होती हैं। (१) पुरुषमेध—पुरुषका त्याग जीवभावको प्राप्त होनेकी लीला (२) नरमेध—नरकी साधना, नरकी आत्मोप-

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri
लब्धि, नरकी भगवत-प्राप्ति। 'एक' काबहु होना, अविभक्तका विभक्त होना, समष्टिका व्यष्टि भावको प्राप्त होना, असीमका ससीम रूपमें प्रकाश, 'तत्' का 'त्वं' रूपमें प्रकाशित होना, 'अहं' की 'इदं' रूपमें परिणति या विवर्तन, कारणका कार्यमें रूपान्तरित हो जाना—'पुरुषमेध' यज्ञ है (Involution), पुनः जीवकी साधना द्वारा 'बहु' में 'एक' की उपलब्धि, विभक्तमें अविभक्तका आस्वादन, व्यष्टिका अपनेको समष्टिमें आहुति दे देना, ससीममें असीम भावकी उपलब्धि, 'त्वं' पदार्थमें 'तत्' की अनुभूति, 'इदं' तत्त्वका 'अहं' रूपमें, कार्यका कारणमें पर्यवसान—'नरमेध' यज्ञ है (Evolution), अर्थात् हम अपने सब तत्त्वोंको भगवानके तत्त्वोंमें मिलाकर, हवन क्रिया द्वारा अपनी व्यष्टिदेहको विराट पुरुषकी देहमें मिलाकर तन्मयता लाभ करेंगे।

पुरुषमेध यज्ञ द्वारा स्वर्गीय पिता (भगवान) ईसा रूप पुत्रमें परिणत हुए और नरमेध यज्ञ द्वारा पुत्र ईसा अपने क्षुद्र अहंकी आहुति देकर, व्यापक अहंमें अपने पितामें विवर्तित हो गये। इसीलिए कहा गया—Be perfect as your Father which art in heaven is perfect. I and my Father are one. परमपिताने अपनेको प्रकाशित करनेके लिए जगतकी सृष्टि की और जीवरूपी उनकी सन्तान अनादि वासनाके फलस्वरूप संसारमें मायाबद्ध होकर नानाविध दुख-कष्ट भोग रहा है। इसीलिए हमारे स्वर्गस्थ पिता जीवका दुःख-मोचन करनेके लिए, जीवको अपने आनन्दधाममें ले जानेके लिए, स्वयं अवतार-रूपमें, पुत्र रूपमें जगतमें आविर्भूत होते हैं।

स्वर्गधाम परित्याग कर, सगुण बनके दुःखपूर्ण जगतमें आना, जगतके कष्टोंको स्वीकार करना—यही उनका त्याग, उनका यज्ञ है और हमारा यज्ञ होगा उनके शिक्षा-उपदेशानुसार चलना, अपने क्षुद्र स्वार्थ कामना-वासना-आसक्ति, दुःख मिश्रित सुखभोगकी इच्छाका त्याग कर, उनके स्वर्गधाममें चले जाना। बापने यज्ञार्थ देह धारण की, देहमें आबद्धवत् प्रतीयमान हैं और पुत्र यज्ञके फलस्वरूप अपने क्षुद्र अहंको, तामसिक देहको त्याग कर, Crucify कर, विदेह मुक्ति लाभ करता है। Crucify thy lower self for the realisation of the Higher Self.
Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

नरमेधकी साधना के मंत्र हैं—'तत्त्वमसि', 'अयमात्मा ब्रह्म', 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'। इस यज्ञके फलस्वरूप हम स्वरूप-प्रतिष्ठ होकर, भगवत-अभिप्राय जान-कर भगवानके हाथका यंत्र हो जाते हैं। तब भगवानकी इच्छा पूर्ण करनेके सिवाय और कोई कार्य नहीं रहता। यहाँ बलि दिया जाता है जीवभावको, स्वार्थ-कामना-वासना-आसक्तिको।

पुरुषमेघ है भगवानका जीवजगतरूपमें परिणति या विवर्तन। और नरमेध है जीवका आगन्तुक मलिनता दूर कर, स्वरूपमें प्रतिष्ठित होना, अपने भीतर छिपी हुई भगवत्ताकी उपलब्धि करना। प्रथम है शिवका जीवरूपमें परिणति या विवर्तन, और दूसरा है नरका शिवत्वमें पर्यवसित होना।

वेदान्तमें यज्ञ

वेदान्त वेदका अन्त अर्थात् सार भाग है। वेदका सार तत्व लेकर, ज्ञान-प्रधान अंशकी ओर अधिक दृष्टि रख कर और उसमें एक अपूर्व समन्वय कर, वेदान्तके सूत्र रचे गये हैं। वेदान्तमें ब्रह्मके द्विविध रूपका उल्लेख मिलता है—"द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे सगुणो निर्गुण····क्षरश्चाक्षरश्च।" भगवानका एक रूप है निर्गुण, निष्क्रिय, निरंजन, असीम, अव्यक्त, अनन्त। दूसरा रूप है सगुण, सक्रिय, साकार, ससीम, व्यक्त, सान्त। तत्त्व-दृष्टिसे दोनों ही ठीक हैं। जो असीम हैं, वे ही सीमा के माध्यमसे आत्मप्रकाश करते हैं। अगर वे ऐसा न करते तो कोई उन्हें जान, समझ, प्राप्त नहीं कर सकता था। प्रेमिक साधु उनके दोनों भावोंकी लीलाका आस्वादन करते हैं। तंत्रशास्त्रमें भी शिवके वक्षःस्थलपर विमर्श शक्तिके आकुंचन और प्रसारणका वर्णन है। जो भगवानके निर्गुण तत्त्वमें विभोर हैं, वे भगवानके यज्ञतत्त्व, लीला रहस्यको न माननेपर भी इसे चित्त-शुद्धि में सहायक मानते हैं। जो भगवानके उभय तत्त्वोंके रसज्ञ हैं, कभी सम-रसमें मग्न तो कभी लीलारसमें विभोर, उसमें प्रकृत यज्ञतत्त्वका प्रभाद देखनेमें आता है। वेदान्तमें दो प्रकारके साधक हैं—एक तो केवल अद्वैत तत्त्वमें विभोर हैं, दूसरे अद्वैतकी उपलब्धि कर लेनेपर भी अद्वैतके द्वैतभावमें समाहित हैं। गीता-

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

कारने भी स्वीकार किया है कि अद्वैतका पथ समधिक क्लेशकर है। प्रकृत तत्त्व द्वैत या अद्वैतमें सोमाबद्ध नहों है। परमहंस श्री रामकृष्णने कहा है—'सारतत्व द्वैत, अद्वैत एवं उसके भी ऊपर है।'

अद्वैतं केचिदिच्छन्ति द्वैतमिच्छन्ति चापरे।
समं तत्त्वं न जानन्ति द्वैताद्वैतविर्वाजतम् ॥

वस्तुतः प्रकृत तत्त्व न द्वैतमें सोमित है, न अद्वैतमें—"त्वमक्षरं सदसत्तत्परं यत्" (गीता ११।३७)। उपनिषद और वेदान्त सकाम द्रव्यात्मक यज्ञके विरोधी होनेपर भी चितशुद्धिमें सहायक निष्काम भावनात्मक यज्ञके विरोधी नहीं हैं। जैसे, "द्वे आहुति जुहोत्येते अग्निहोत्रविधानतः। ममतां प्रथमं हुत्वा अहन्तां जुहुयात्ततः" ॥—बोधसार। अर्थात् ब्रह्मज्ञानी अग्निहोत्र विधानके अनुसार ब्रह्ममें पहले 'ममता' की आहुति देकर, 'अहन्ता' नामक दूसरी आहुति दे। "यत्रेन्धनं द्वैतवनं" इत्यादि वाक्योंमें द्वैतबुद्धिकी अद्वैत ब्रह्मतत्त्वमें आहुति देनेकी व्यवस्था है। फिर 'नेति-नेति' साधना द्वारा 'त्वं' पदार्थकी 'तत्'-पदार्थमें आहुति विधेय है। "ब्रह्मसे सब आया है और ब्रह्ममें ही जाकर सब लीन हो रहा है", इस भावनाके द्वारा 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' मंत्रको सार्थक करना होगा। "ज्ञानयज्ञके लिए संकल्प-विकल्पात्मक अन्तःकरण ही यज्ञीय पशु है"—इस वाक्यमें भी हमें भावनात्मक और केवलात्मक यज्ञका आभास मिलता है।

इसके अलावा ज्ञानीके लिए पंच महायज्ञका भी उल्लेख देखनेमें आता है। "ज्ञाननिष्ठा क्षमा सत्यं विवेकः परिपूर्णता। एते पंचमहायज्ञाः सम्मता ब्रह्मवादिनाम्"। अर्थात् ज्ञाननिष्ठा, सुख-दुःख-सहन, सत्य भाषण, आत्म-अनात्म-विवेक, अपने पूर्णत्वमें निश्चय बुद्धि—इन पांच भावोंमें सर्वदा अवस्थित रहनेकी चेष्टा करना ज्ञानीका पंचमहायज्ञ है।

सार बात यह है कि यज्ञकी आगन्तुक मलिनता देखकर क्रियाबहुल सकाम यज्ञकी निन्दा करनेपर भी कोई भी ज्ञानी चित्तशुद्धिमें सहायक एवं ब्राह्मीस्थितिके अनुकूल किसी क्रियाको वर्जन करनेका उपदेश नहीं दे सकता।

भगवान शंकराचार्यके 'आत्मबोध' और 'अपरोक्षानुभूति' ग्रन्थोंके साधन श्लोकोंमें भी भावनात्मक यज्ञका सुन्दर आभास मिलता है। इस प्रकारके और

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

भी अनेक वाक्य वेदान्त ग्रन्थोंमें मिलते हैं। इसलिए यह सहज ही माना जा सकता है कि ज्ञानयोगके साधक यज्ञमात्रके विरोधी नहीं हैं।

गीतामें यज्ञ

वैदिक युगके प्रारम्भमें कर्म और ज्ञानका अपूर्व समन्वय था। तब ज्ञान था कर्मका उत्साह-दाता और चालक एवं कर्म होता था ज्ञानानुमोदित। उस समय द्रव्यात्मक, भावनात्मक, और केवलात्मक यज्ञमें एक विचित्र सामंजस्य था। इस समयको संहिताका युग कह सकते हैं। इसके बाद ज्ञानचालित कर्ममें कर्मके माहात्म्यकी वृद्धि हो गयी। तब द्रव्यात्मक यज्ञकी महिमाका प्रचार होने लगा और यज्ञ प्रतिष्ठा एवं धन उपार्जनका श्रेष्ठ उपाय बन गया। इस समयको यज्ञबहुल ब्राह्मणोंका युग कहा जा सकता है। लोग समझने लगे कि कर्मके इस अपव्यवहारके मूलमें है ज्ञानका अभाव एवं अज्ञानताका प्रभाव। कर्मोंके अत्यधिक अपव्यवहार एवं अत्याचारसे रक्षा करनेके लिए ज्ञान-प्रधान उपनिषदोंका समय आ गया। उपनिषदोंमें ज्ञान-कर्म-भक्तिकी एक सुन्दर मूर्ति है, लेकिन ज्ञानकी प्रधानता है। उस समय देशकी अवस्था स्वच्छल थी। जीवनयात्राका निर्वाह सहज हो जाता था। इसलिए लोग ज्ञानको लेकर व्यस्त हो गये। ज्ञानकी महिमाके प्रचारके साथ-साथ कर्मका अनादर होने लगा। कर्म रह गया अपेक्षाकृत निम्न श्रेणीके लिए और उच्च श्रेणीके लोग ज्ञानमें व्यस्त रहने लगे। अनेक लोग गृहस्थ आश्रममें प्रवेश न करके ब्रह्मचर्य आश्रममें ही रहकर ज्ञानार्जन करनेमें जीवन व्यतीत करते। तब कर्मके प्रति उदासीनता आगयी और कर्महीन संन्यास युगका प्रादुर्भाव हुआ। अति सामान्य कारणसे ही लोग कर्म छोड़ कर ज्ञानप्रधान संन्यासकी ओर जाने लगे। इसी समय स्वधर्मनिरत आदर्श नर अर्जुनमें भी कर्म छोड़ कर, भिक्षावृत्ति अवलम्बन कर, संन्यास लेनेकी प्रवृत्ति दिखाई देती है। तब कर्म मालूम होता था बन्धनका कारण, केवल ज्ञान ही मुक्तिमें सहायक दीखता था। इसी

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

समय गीताका धर्म प्रचारित हुआ। इस धर्ममें ज्ञान-कर्म-भक्तिका अपूर्व समन्वय था और इस धर्मने अस्वाभाविक कर्मके त्याग एवं संन्यासकी प्रवृत्तिसे देशकी रक्षा की। गीताने अस्वाभाविक कर्मभीति एवं तामसिक त्याग-के हाथसे देशकी रक्षा कर देशका प्रचुर कल्याण किया है। कर्म बन्धनका कारण नहीं है, कौशलपूर्वक करनेसे मुक्तिमें सहायक होता है। कर्म जीवनका नित्य सहचर है, कर्म छोड़ देनेसे जीवनयात्रा भी नहीं चल सकती।

जो अवश्य करणीय है, उसके अनिष्टकर अंशको निकालकर उसे मुक्ति, भगवत-प्राप्ति के अनुकूल बनाया जा सकता है—गीता का यह दान हम सर्वश्रेष्ठ रूपमें ग्रहण करनेको बाध्य हैं।

गीताने किसीकी अवमानना नहीं की। सब कल्याणप्रद प्रथाओंका अनु-मोदन किया है। ज्ञानकी प्रधानताको स्वीकार करके, ज्ञानको कर्मके चालक रूपमें ग्रहण करके, ज्ञानके बिना कर्म पूर्णताको प्राप्त नहीं होता—यह भी मान कर ('सर्वकर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते') गीता की सर्वाधिक दृष्टि इस ओर है कि अनासक्त फलाकांक्षारहित, यज्ञार्थ, भगवत-तृप्तिके लिए, जीव हितकारी कर्म बन्धन का कारण नहीं, मुक्तिका साधक है। इसीलिए कर्म सृष्टि-के मूलमें है, कर्म अनादि है, अवश्य करणीय है, कर्म यज्ञभावसे अनुष्ठित हो तो भगवत-प्राप्तिका मुख्य कारण होता है—गीता ने इसपर विशेष बल दिया है।

गीता ने अनेक जगह यज्ञ का वर्णन है। देखो गीता ३।९–१५, ४।२३–३३, ९।१५–२७, १८।३–५—यज्ञ अनादि है; यज्ञ उन्नतिमें सहायक है; यज्ञ ही कर्म है; कर्मके बिना यज्ञ नहीं बनता; जगतमें एक कर्मचक्र चल रहा है; सिद्धावस्थामें भी कर्म हो सकता है—यहां तक कि भगवान स्वयं भी कर्म करते हैं (गीता ३।२२–२४)। गीताकारने 'यज्ञ' शब्दका बहुत व्यापक अर्थ किया है। कर्ममात्र यज्ञ है, किन्तु जीवके लिए भगवत-प्राप्तिके अनुकूल कर्म ही यज्ञ है। यज्ञ, पूजा, आराधना, उपासना, साधन-भजन समानार्थक हैं।

गीताकी उत्पत्ति कहाँसे है और गीताका अन्तिम उपदेश क्या है—इस ओर लक्ष्य रखके गीता का तात्पर्य समझना होगा। स्वधर्म-त्यागी, परधर्म ग्रहण करनेका इच्छुक, अर्जुनको धर्मका प्रकृत स्वरूप बताकर, स्वधर्म में

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal.

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

प्रतिष्ठित करनेके लिए ही गीताकी उत्पत्ति हुई। अधार्मिक दुर्योधन के अत्याचार से आत्मरक्षा करने के लिए दृढ़संकल्प अर्जुन अपने बन्धु-बांधवादिकोंकी हिंसाके भयसे क्षत्रियके स्वधर्मस्वरूप धर्मयुद्धसे विरत होना चाहता था। तब उसकी आत्माका स्वरूप, धर्मका स्वरूप, स्वधर्म-पालनकी श्रेष्ठता बताकर, अपना विश्वरूप दिखा कर, धर्मयुद्धमें लगा देना ही गीताका प्रधान कार्य था। गीताके अन्तमें भगवानने कहा, 'मामनुस्मर युध्य च' और अर्जुनने प्रतिज्ञा की—'करिष्ये वचनं तव।' इससे हम समझ सकते हैं कि गीताकारने स्वधर्म-पालन पर कितना जोर दिया है और स्वधर्म-पालनको 'यज्ञ' की श्रेणीमें रखा है—देखो, गीता ३।३५, १८।४५–४७,। जब यज्ञ केवल मंत्रोच्चारण करके आगमें घृतकी आहुति देनेमें पर्यवसित हो गया, तब उपनिषद्ने इन सबको गौण कह कर ज्ञानकी प्रधानताका विचार किया। महाभारतने पशुहिंसात्मक यज्ञ के बदले दान, ध्यानादि द्वारा यज्ञका विधान किया है (शान्तिपर्व)। क्रमशः श्रौत यज्ञ शिथिल पड़ गया और स्मार्त पंचमहायज्ञकी प्रतिष्ठा हो गयी। दान, सत्य, दया, अहिंसा, सर्वभूतका हित करना, जो उपनिषद और स्मृति-सम्मत थे, यज्ञ मानते गये। संसारकी परिचालनाके लिए होमादि द्वारा दैवयज्ञ एवं जीवसेवा के लिए अनासक्त फलाकांक्षा-रहित होकर त्यागात्मक सेवायज्ञ विहित हुआ। ब्रह्मज्ञानी ब्रह्मज्ञानका प्रचार कर ऋषियज्ञ करते। योगियोंमें कोई यम-नियम-प्राणायामादि द्वारा इंद्रय संयम रूप यज्ञ करते और कोई विषयके द्वारा विषयीका ध्यान करनेकी चेष्टा करते। ध्यानीगण इन्द्रिय-प्राणादिकी क्रियाका निरोध कर आत्मामें समाहित होनेकी चेष्टा करते। कोई आहारादिका संयम कर योगाभ्यास करते। कोई प्राणायामादिका अनुष्ठान कर चित्तवृत्तिका निरोध करनेकी चेष्टा करते। ये सब साधनाएँ यज्ञके अन्तर्गत हैं। जीवके सब यज्ञ उसी विराट यज्ञके अंश हैं। अंशका कार्य पूर्णरूपेण न किया जाय तो जगद्व्यापी यज्ञ हृदयँगम नहीं होता। मंत्र पढ़कर अग्निमें केवल घृताहुति देना यज्ञ नहीं है। पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण ही एक मात्र यज्ञेश्वर हैं—उन्हींको अधियज्ञ कहा गया है (गीता ८।४)।

यज्ञ आत्मसमर्पण करनेकी शैली है। गीतामें साधारणतः पाँच प्रकारके यज्ञ

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

कहे गये है–द्रव्ययज्ञ, तपोयज्ञ, योगयज्ञ, स्वाध्याययज्ञ, ज्ञानयज्ञ (गीता ४।२८)। सत्ताके अस्तित्वके साथ-साथ उनको द्रव्य अर्पण करनेकी प्रवृत्ति जाग उठती है। द्रव्य अर्पण करनेका अर्थ है यह समझना कि सब द्रव्य उनके हैं और ऐसा समझ कर द्रव्यके ऊपरसे अपना ममत्व, स्वामित्व दूर करना। तब अपना 'मैं' नजरमें आता है। तपोयज्ञ द्वारा आगन्तुक मलिनता दूरकर 'मैं' को शुद्ध किया जाता है। तब अपना प्रकृत स्वरूप दृष्ट होता है। तब अनुभवमें आता है कि हमारा जो कुछ है, सब उनका है; उन्हींकी शक्ति हमारे भीतरसे कार्य कर रही है–यह तत्त्व उपलब्ध कर हम योगकी सहायतासे उनके साथ युक्त होने चेष्टा करते हैं। इसके बाद स्वाध्याय यज्ञ द्वारा हम 'स्व' का, अपने आत्माका अध्ययन कर, प्रत्येक कर्मके मूलमें उसकी उपलब्धि कर, एक परम अखण्ड सत्ताका संधान पाते हैं। तब हमारा जीवत्व उनकी शक्तिका विकास है, हमारी इन्द्रियोंकी क्रिया उनकी शक्तिका प्रकाश है, हमारी बुद्धिके भीतर उनकी ज्ञानशक्तिका प्रकाश है—यह उपलब्धि कर हमारा जीवभाव दूर होजाता है और आत्मनिवेदन स्वाभाविक हो जाता है। तब इस ज्ञानयज्ञके द्वारा हम सब तत्त्वों एवं अपने आत्माको निवेदन कर अनुभव करते हैं कि जो कुछ है, सब उन्हींका विकास है। तब वे हमें अपनी लीलामें सहायक करनेके लिए सब तत्त्व वापस दे देते हैं—इसका नाम है हविःशेष-भक्षण। भक्त साधक इस 'मैं' को उनकी लीलामें सहायक दास 'मैं' कहता है।

महात्मा तिलकने अति सुन्दर युक्ति द्वारा प्रतिपन्न किया है कि आत्मौपम्य बुद्धिसे अनासक्त फलाकांक्षा-रहित होकर सर्वजीवका हित-साधन रूप भगवत्-आराधना ही गीता और महाभारतका प्रकृत यज्ञ है। गीताका उद्देश्य है जीवनको यज्ञमय बनाना। सारांश यह है :—

(१) पहले बताया गया कि कर्ममात्र ही यज्ञ हैं। (२) फिर कहा गया, अनासक्त फलाकांक्षा-रहित होकर, भगवदिच्छा पूर्ण करनेके लिए, जीवका कल्याण करनेके लिए ही सब कार्य यज्ञ हैं। (३) यज्ञ नियत कर्म है—जो कर्म करनेके लिए भगवानने हमें भेजा है। (४) यज्ञ स्वधर्म-पालन है। (५) जीवकी सेवा ही यज्ञ है। (६) लोक-संग्रहकी चेष्टा ही यज्ञ है। (७) यज्ञ त्यागात्मक

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

कर्म (sacrifice) हैं। त्यागके बिना समाज नहीं ठहर सकता। हम दूसरोंके लिए कर्म करें, दूसरे हमारे लिए कर्म करें—इस प्रकार एक दूसरेकी सहायतासे जगक्चक्र सुचारु रूपसे चलता है। पाश्चात्य समाज-शास्त्रों का कहना है कि दूसरोंको स्वतंत्रता देनेके लिए अपनी स्वतंत्रताको परिमित, नियमित करना होगा। यज्ञ (अपनी स्वतंत्रता रूप स्वार्थ-त्याग) किये बिना लौकिक व्यवहार नहीं चल सकता। यज्ञ (त्याग) ही समाज-रचनाका मूलाधार है। हम संसारके सब जीव एक दूसरेके लिए त्याग करें; सब जीव मिल कर देवताओं के लिए त्याग करें, और देवगण सब जीवों के लिए त्याग करें—हमारे सब तत्त्वोंको अपने भाव और शक्तिसे भरपूर करें। इसी शैलीसे जगत-चक्र सुन्दर रूपसे चल सकता है। गीताकारने चक्रकी उपमा देकर यज्ञके स्वरूपको समझाया है। जगत् चक्र के चालक स्वयं श्री भगवान हैं। उन्हीं भगवानसे अक्षर, अक्षरसे ब्रह्म, ब्रह्मसे कर्म, कर्मसे यज्ञ, यज्ञसे मेघ, मेघसे अन्न, अन्नसे जीव। गीतामें कहीं-कहीं जप-यज्ञ की प्रधानता बतायी गयी है (यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि—१०।२५)। जपयज्ञको योगयज्ञके अन्तर्गत माना जा सकता है। गीताकारने बार-बार ज्ञानयज्ञकी प्रधानता दिखायी है, लेकिन कर्मयोगका त्याग करनेका उपदेश कहीं नहीं दिया। वरन् बताया गया है कि ज्ञानके द्वारा ही कर्म पूर्णताको प्राप्त होता है। जनकादि महापुरुष सिद्ध महात्माओंको गीताने पूर्ण स्वाधीनता दी है, वे यज्ञ करें या न करें, उनकी इच्छापर निर्भर करता है। लेकिन उनमें जो लोक-संग्रह के लिए, लोगोंको सत-पथपर लानेके लिए, जीवकी सेवाके लिए यज्ञका अनुष्ठान करते हैं, उनकी प्रधानता दिखायी है। यहाँ तक कि पुरुषोत्तम श्रीकृष्णने भी कर्मका त्याग नहीं किया, स्वधर्म-पालनमें निरन्तर रत रहते हैं—गीता ३।२२, गीताकारका त्यागकी ओर, स्वधर्म-पालनकी ओर प्रधान लक्ष्य है।

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

तंत्र (शैव) मतमें यज्ञ

'तंत्र' शब्द 'तन्' धातुसे बनता है। 'तन्' का अर्थ है विस्तार। "तन्यते विपुलमर्थं तत्त्वमंत्रसमन्वितम्। त्राणंच करोति यस्मात् तस्मात् तन्त्र-मुदाहृतम्" ॥ (जो सत्यकी विस्तार-पूर्वक व्याख्या करता है, अर्थके द्वारा, विभूतिके द्वारा, विपुल रूप धारण करता है, प्रकृत तत्त्व हृदयंगम करनेकी योग्यता प्रदान करता है, जिसकी सहायतासे हम संसार-सागरसे उत्तीर्ण होने-में समर्थ होते हैं, उसीका नाम 'तंत्र' है)। तांत्रिकगण तंत्रको, वेदकी भाँति, अपौरुषेय मानते हैं। तंत्रका एक और नाम 'आगम' है। जीवके परमकल्याण-के लिए इसका शिव जीने स्वयं प्रचार किया। अनेक सिद्ध-महात्माओंने इसकी वृद्धि साधन की। यह शिव-शक्ति रहस्य है। वेदान्तकी तरह तंत्रमें भी अद्वैत, द्वैताद्वैत, विशिष्टाद्वैत, शुद्धाद्वैत विभाग हैं। द्वैतवादी तंत्रमें द्रव्या-त्मक यज्ञ का, विशिष्टाद्वैत और द्वैताद्वैत तंत्रमें भावनात्मक यज्ञ का, और अद्वैतवादी तंत्रमें केवलात्मक यज्ञका आभास मिलता हैं। यंत्र-मंत्र-तंत्र का रहस्य आविष्कार करके तंत्रशास्त्रने जगतका प्रचुर कल्याण किया है। तंत्र शास्त्र बताता है कि हम यंत्र-तंत्र-मंत्र रहस्य समझ कर, सुन्दर और स्वाभाविक रूपसे चरम सत्य तक पहुँच सकते हैं। "पूजातत्त्व" पुस्तक में यंत्र-तंत्र-मंत्र रहस्य देखिये। तंत्र के पश्वाचारको शुद्धिप्रधान द्रव्यात्मक यज्ञके भावका, वीराचारको भावनात्मक यज्ञके भावका और दिव्याचारको केवलात्मक यज्ञ-के भावका निदर्शन कहा जा सकता है। तंत्रमें वैदिक भावका प्रभाव अधिक मात्रामें दृष्ट होता है, किन्तु वैदिक भावकी अवनतिके साथ जो सीमाबद्ध साम्प्र-दायिक भाव आ गया था, उसका तंत्रने विरोध विया। परवर्ती तंत्रमें बौद्ध प्रभाव भी विशेषरूपमें दृष्ट होता है। तंत्रमें यज्ञके उपकरण एवं यज्ञकी अनुष्ठान-विधिने भी वैदिक यज्ञसे भिन्न आकार धारण किया। सम्प्रदायविशेषमें हव-नीय द्रव्यके (इड़ाके) स्थानमें विविध मुद्रा और कल्पित द्रव्यादि एवं सोमके

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

स्थानमें मद्यादि आ गये। कोई-कोई मद्यपानमें होमबुद्धि और वीर्याधानमें आहुत्ति-बुद्धि करते थे। यहीसे पंचतत्त्वकी (पंचमकारकी) प्रधानता देखनेमें आती है। किन्तु इसमें भी एक सुन्दर आध्यात्मिक साधनतत्व था—यह अस्वीकार नहीं किया जा सकता। तंत्रमें पश्वाचार, वीराचार ओर दिव्याचार भेदसे साधन और यज्ञमें भेद दृष्ट होता है।

तंत्रमें योगका प्रभाव भी अस्वीकार नहीं किया जा सकता। मूलाधारमें द्रव्य यज्ञ, मणिपुरमें तपोयज्ञ, अनाहतमें भावनात्मक यज्ञ, आज्ञाचक्रमें ज्ञानयज्ञ और सहस्रारमें केवलात्मक यज्ञके अनुष्ठानकी व्यवस्था है। अन्यत्र मूलाधारमें पाद्य, मणिपुरमें अर्घ्य, अनाहतमें धूप, आज्ञाचक्रमें दीप, और सहस्रारमें नैवेद्य अर्पण करनेका उल्लेख मिलता है। यज्ञकुण्डके संबन्धमें कहा गया है कि पहले ब्रह्मशक्ति नादरूपमें स्फुरित हुई। बादको यह नाद वक्रगतिको प्राप्त होकर त्रिकोण रेखामें, त्रिकोण योनिमें परिणत हो गया। यह इच्छा-ज्ञान-क्रियारूपा त्रिशक्ति-रूप योनि ही जगतजीवका उत्पत्तिस्थान है। यही योगशास्त्रका "अकथ आदि त्रिरेखात्मक चक्र" है। यही गीताकी "महद् ब्रह्मयोनि" है। यही आगमका "चित्कुण्ड" है। हमारा हवनकुण्ड इसी चित्कुण्डका प्रतीकमात्र है। यह भावनात्मक यज्ञके अन्तर्गत है।

तंत्रशास्त्रने षट्चक्रका छः कुण्ड रूपमें वर्णन किया है। मूलाधारमें क्षिति, स्वाधिष्ठानमें अप्, मणिपुरमें तेज, अनाहतमें मरुत्, विशुद्धाख्यमें व्योम एवं आज्ञाचक्रमें जीवात्माकी आहुति देनेकी व्यवस्था की है। फलतः पंचतन्मात्र एवं इससे उत्पन्न पंचभूतात्मक स्थूल देह, पंचप्राण, मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार एवं जीवात्माको अर्थात् समस्त इदं पदार्थको शिवमें पूर्णाहन्तामें आहुति देनेकी व्यवस्था की गयी हैं। सार बात यह है कि अहमग्निमें (तत् पदार्थमें) समस्त इदं-पदार्थ (त्वं-पदार्थ) निवेदन कर 'तत्त्वमसि' महावाक्यकी उपलब्धि करना तंत्रोक्त यज्ञका प्रधान उद्देश्य है। यह भावनात्मक और केवलात्मक यज्ञका अंगीभूत है और इस ओर ही तंत्रकी अधिक दृष्टि है।

मनुष्य देहके विभिन्न तत्त्वोंमें भगवल्लीला दर्शन करना ही यज्ञका उद्देश्य है। साधारणतः हमारे भीतर परमात्मा, जीवात्मा, चित्त, अंहकार, बुद्धि, मन,

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

प्राण, इन्द्रिय एवं इनके कार्यक्षेत्र रूप देहके विभिन्न अवयव वर्तमान हैं। जैसे बल्बके भीतर बिजलीके प्रकाशको हम बत्ती जलना कहते हैं, इसी प्रकार अपने विभिन्न तत्वोंमें भगवत-प्रकाशको हम अपना ज्ञान, आनन्द, कर्म आदि नामसे मिथ्या प्रयोग करते हैं। ऋषियोंका मत था कि हमारी आँखोंके माध्यमसे भगवानका प्रकाश है हमारा देखना, हमारे कानों के भीतर से उनका प्रकाश है हमारा सुनना, चित्तके भीतर से उनका प्रकाश है हमारा आनन्द, हमारी बुद्धिके भीतरसे उनका प्रकाश है हमारा ज्ञान, इत्यादि। अर्थात् भगवान ही हमारी आँखोंसे देख रहे हैं, कानोंसे सुन रहे हैं, मनसे विचार कर रहे हैं, चित्तसे आनन्द आस्वाद कर रहे हैं—इसकी उपलब्धि करना ही उनका भगवत-दर्शन था। "श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो मनो" इत्यादि श्रुति इसकी साक्षी है। अर्थात् हमारा देखना, सुनना, बोलना, कार्य करना इत्यादि सब भगवान की स्वहस्त निर्मित देहके माध्यमसे उनका प्रकाश, विवर्तन अथवा लीलाके अतिरिक्त और कुछ नहीं है। हमारा देहयन्त्र उनका लीलाक्षेत्र है और इसके माध्यमसे वे अपने सब तत्वोंको प्रकाशित कर रहे हैं। उनको छोड़कर हमारा पृथक् अस्तित्व है ही नहीं। जिन सब चीजों और तत्वोंको हम अपना समझते हैं, वे हमारे नहीं हैं—यह तत्व उपलब्ध करना ही यज्ञका उद्देश्य है। संसार-कल्पित अहंकारका प्रभावमात्र है। यह वृथा अभिमान दूर करना ही यज्ञका उद्देश्य है। इसीलिए यज्ञको त्यागात्मक कहा गया है।

तंत्रमतानुसार अग्नि स्वयं ब्रह्म, परमशिव, पूर्णाहन्ता हैं। इस अग्निकी पाँच शिखाएँ यथाक्रम हैं—स्वतंत्रता, नित्यता, पूर्णतृप्ति, सर्वकर्तृत्वता और सर्वज्ञता। इन शिखाओंमें यथाक्रम अधीनता, अनित्य देहादि भाव, कामनातृष्णा, अहंकार और अल्पज्ञताकी आहुति देनेकी व्यवस्था है। अन्यत्र कहा गया है—'वह्नि स्वयं शिव हैं, शिवभावापन्न पूर्णशुद्ध परिच्छिन्न चिदभावापन्न जीव होता है, हविः समस्त इदं पदार्थ अथवा विषय हैं, इन्द्रियाँ स्रुक हैं। समस्त परिच्छिन्न भाव दूर कर, शिवभावको प्राप्त होनेके लिए ही यज्ञ विहित है।

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

अन्यत्र कहा गया है :—

अन्तर्निरन्तरम् अनिन्धनमेधमाने, मोहान्धकार परिपन्थिनि संविदग्नौ। कस्मिश्चिद् अद्भुत्-मरीचि विकाशभूम्नि, विश्वं जुहोमि वसुधादि शिवावसानम्। (इसका अर्थ १०२ न० श्लोकमें देखिये)।

यहाँ स्वयं शिव अग्नि हैं, तंत्रोक्त ३५ तत्त्व हव्य हैं और शिवभावापन्न साधक होता है। यह केवलात्मक यज्ञकी महिमा प्रकाशित करता है।

अग्नि द्वारा हवनीय द्रव्यको शुद्धकर एवं क्रमानुसार रक्त, वीर्य, ओजस् और सुधामें परिणत कर, उस सुधाको शिवको अर्पण करनेकी व्यवस्था तंत्रमें भी है। तंत्रके अवरोहण रूप यज्ञमें पुरुषमेधका और जीवके आरोहण रूप यज्ञमें नरमेध यज्ञका आभास मिलता है। इसीके अपभ्रंशरूपमें कदर्य बलिकी प्रथा समाजमें आगयी। तंत्रने वैदिक यज्ञको देश-काल-पात्रके अनुकूल बना कर समाजके कल्याणमें विशेष सहायता की। बादको जो आगन्तुक विकृति आगयी, उसके लिए प्रकृत तांत्रिक साधक दायी नहीं हैं।

तंत्रमतानुसार व्यष्टि देहमें जगतके, समष्टि देहके सब तत्त्व वर्तमान हैं। देहके विभिन्न केन्द्रों और चक्रोंमें भगवतीकी अनन्त शक्ति सुप्त भावमें अवस्थित है। इन सब शक्तियोंको जागरित कर पूर्णतः विकसित किये बिना पूर्णस्वरूपको पूर्णरूपेन आस्वाद करना असम्भव है। इसके बाद व्यष्टि देहकी समष्टि देहमें आहुति देकर, भगवानको पूर्ण आत्मनिवेदन कर, व्यष्टि जीव ईश्वरसे तन्मयता लाभ कर सकता है। ईश्वरको देखनेके लिए दिव्यदर्शनकी शक्ति आवश्यक है, उनकी वाणी सुनने के लिए दिव्य श्रवण चाहिए, उनको जानने के लिए चाहिए दिव्य ज्ञान। भगवानका प्रिय सखा अर्जुन दिव्य दृष्टि लाभ करके भी उनकी ज्योतिको सहन नहीं कर सका था। वेदान्त जिसे वाक्य-मनके अतीत कह कर चुप होगया, तंत्र बताता है कि उन्हें इतनी दूरतक जाना-पाया जा सकता है, जितना कि पृथिवीकी किसी भी वस्तुको नहीं जाना-पाया जा सकता। लेकिन उसके लिए अप्राकृत शक्ति एवं अप्राकृत इन्द्रियाँ चाहिएँ। उपनिषदने 'सचक्षुः अचक्षुरिव', इत्यादि कहकर उसका एक सामान्य आभास दिया है। इन्द्रियोंकी वृत्तियोंको कैसे पूर्णतः विकसित किया जा सकता है, इसका अपूर्व रहस्य हमें तंत्रशास्त्रमें मिलता है।

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

वेदान्तमत और तंत्रमतमें एक और विशेष पार्थक्य है। ज्ञानी का लक्ष्य है ब्रह्महृदमें ब्रह्मानन्द में डूबे रहना। यही उनका शेष लक्ष्य है। वे वहाँ पहुंच कर फिर उठना नहीं चाहते। तंत्र चाहता है, अद्वैत ज्ञान लाभ करके, अद्वैतकी द्वैत अवस्थामें लीलारस आस्वाद करना, अर्थात भगवल्लीलामें सहायक होना। इस प्रसंगमें 'बोधसार' का यह प्रसिद्ध श्लोक स्मरणीय है—"द्वैतं मोहाय बोधात् प्राक् प्राप्ते बोधे मनीषया। लीलार्थं कल्पितं द्वैतम् अद्वैतादपि सुन्दरम्"॥ अर्थात् ज्ञानके उन्मेषसे पहले जो द्वैत बुद्धि थी, वह केवल मोहके हेतु। किन्तु मनीषा द्वारा ज्ञानका उन्मेष होजानेपर लीलाके हेतु जो कल्पित द्वैत है, वह अद्वैतसे भी सुन्दर है। तंत्रशास्त्रके अनुष्ठान ही तांत्रिक यज्ञके अन्तर्गत हैं। इसलिए उनकी आवश्यकताको अस्वीकार नहीं किया जा सकता। जगतमें तंत्र और गीताका दान अतुलनीय है।

●

वर्तमान कालोपयोगी यज्ञ

यज्ञ जब मनुष्यका कल्याण करनेमें, भगवत-प्राप्तिमें इतना सहायक है तो सबको यज्ञका प्रकृत स्वरूप समझाकर यज्ञकी ओर आकृष्ट करना एवं यज्ञको सबके लिए सुगम बनाना अत्यावश्यक है। पहले तो यह समझना होगा कि यज्ञ क्या है, क्यों किया जाता है, इससे क्या प्रयोजन साधित होता है। फिर जानना होगा कि यज्ञ चित्तशुद्धिमें, उन्नतिमें, कल्याणमें, भगवत-प्राप्तिमें किस प्रकार सहायक है। यज्ञके मंत्र ऐसे सुन्दर रूपसे सुसज्जित, सहजबोध्य और हृद्य होने चाहिए कि लोगोंका मन सहज ही यज्ञकी ओर आकृष्ट हो। वर्तमान समयमें यज्ञ इस प्रकार होना चाहिए कि जिससे लोगों के वर्तमान प्रयोजन सिद्ध हों, शरीरका स्वास्थ्य, सौन्दर्य, सामर्थ्य बढ़े, कर्ममें उत्साह और स्फूर्ति आये, मन ज्ञान-प्रेम-आनन्दसे भरपूर हो जाय, समाज-देश-जीवमात्रका हित हो, जो सबकी उन्नति और शान्तिमें सहायक हो, जिसे देखकर लोग यज्ञ करनेको लुब्ध हों,

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

जिसमें खर्च भी कम हो और समय भी ज्यादा न लगे और जिसके अनुष्ठानसे सब आनन्द पायँ।

यज्ञ इस प्रकार अनुष्ठित होना चाहिए कि जिससे हवा शुद्ध हो, चित्तमें सद्भाव जागरित हों, सबके अशान्ति-अभाव दूर हों, जो एकता-वर्धक, कल्याण साधक, मुक्तिदायक एवं भगवत-प्राप्तिमें सहायक हो, जिसके अनुष्ठानसे लोगोंका ईर्ष्या-द्वेष दूर होकर एकताका भाव स्थापित हो और समाज, देश, जगत-जीवकी उन्नति एवं शान्तिमें सहायक हो।

यज्ञ जिससे सहजसाध्य हो, इस ओर दृष्टि रखकर यज्ञको यथासम्भव आडम्बर-रहित बनाना होगा। प्राचीन कालके यज्ञांग और अनुष्ठान-विधिकी यथा-सम्भव रक्षा करनी होगी। उद्देश्य ठीक रहे किन्तु बाहुल्य, विकृत और आडम्बरका वर्जन करना होगा। यज्ञमें अध्वर्य, आदिके स्थानमें एक अग्निरक्षक ब्रह्मा और दो-तीन होता रहें।

अग्नि-चयनके समय, अग्नि-स्थापनके समय, प्राणायाम, षट्चक्रभेद, पंचकोशविवेक आदि तत्त्वोंका सबको मिलकर चिन्तन करना चाहिए। देहके प्रत्येक तत्त्वमें भगवत-शक्तिका अवतरण (Descent of the Divine) अनुभव करनेकी चेष्टा करनी चाहिए।

यज्ञ आरम्भ करनेसे पहले भगवत-शक्तिके अवतरणके लिए समवेत प्रार्थना करनी चाहिए—'आविरावीर्म एधि' आदि मंत्र पाठ करने चाहिए। पूजा द्रव्यादि-के शोधनके समय इड़ा और सोम देवता का आवाहन करना चाहिए। इड़ा (यजमानके पशु) की जगह मीठा पिष्टक और सोम की जगह दुग्धादि व्यवहार करें। ये चीजें यजमानके, इड़ा और सोमके प्रतीक हैं, सबको बता देना होगा। आहुति देनेके लिए धूप, राऊ, आदिसे सुगन्धित सामग्री बना लेनी चाहिए। पिष्टक, दुग्ध, फलादि अर्पण करके यज्ञावशेष प्रसाद सबको मिल कर खाना चाहिए और उस समय एकतावर्धक "संगच्छध्वं", "अपाम सोमममृता अभूम", आदि मन्त्र पाठ करने चाहिए। पूर्णाहुतिको पूर्णरूपेण आत्मनिवेदनके योग्य बनाना होगा। अर्थात् सब मंत्रों, सब तत्वोंके पूर्ण विकासके फलस्वरूप भगवान-

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri
को आत्मनिवेदन कर, मैं भगवानके हाथका यंत्र हो गया और जीवसेवामें अपना जीवन उत्सर्ग करता हूँ। इस समय "मर्य्याप्यते त्वच्चरणेऽयमात्मा", "मा पश्य चालय विभो सततं च रक्ष"; "सर्वं त्वदीयं इति मे प्रियमेव सर्व", इत्यादि मन्त्र पाठ करने चाहिए। भावनात्मक यज्ञके स्थानमें एक-एक तत्वका चिन्तन कर भीतर और बाहर किस प्रकार सर्वदा यज्ञ होरहा है--इसकी उपलब्धि करनी होगी। आरती करनेंसे पहले; आरती किस प्रकार आत्मनिवेनकी पंचतत्व-निवेदनको प्रतीक है—यह तत्व समझा देना होगा।

परमाराध्य स्वामीजीने लिखा है--"इस यज्ञ विधि और यज्ञकी व्याख्यामें यज्ञकी उपकारिताका सामान्य आभास दिया गया है। समय और शक्तिके अभावसे इनमें अनेक अभाव-त्रुटि रह गयी हैं। आशा करता हूँ कृपालु पाठकगण इसे शुद्ध करके सुन्दर आकार देनेकी चेष्टा करेंगे।"

●

यज्ञके अनुष्ठाता—ऋत्विक और अध्वर्यु

यज्ञके अनुष्ठानकारियोंको विशेषरूपसे शुद्ध और संयत होकर, नियम-निष्ठा पालनपूर्वक, निर्दिष्ट समय यज्ञके लिए व्रती होकर, अपना-अपना निर्दिष्ट कार्य करनेके लिए तैयार होना चाहिए। जिनके ऊपर जिस कामका भार हो, उन्हें उस प्रकारके भावमें परिभावित होकर अपने कार्यमें तन्मयता लाभ करनेकी चेष्टा करनी चाहिए। यज्ञके प्रधान अनुष्ठाता ये हैं :—

(१) **ऋत्विक**—यजमान का प्रतिनिधि। यजमान अगर असमर्थ हो तो प्रतिनिधि द्वारा यज्ञ करानेका विधान है। यही हैं प्रकृत यज्ञकर्त्ता। इनके भाव, वचन और कार्य यज्ञतत्वको प्रकाशित करेंगे। ये होंगे मूर्तिमान यज्ञ। इन्हें देखकर लोग सहज ही यज्ञतत्व समझ सकेंगे।
Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

(२) **अध्वर्यु**—इनका काम है वेदीके ऊपर कुशादि बिछाना, पुड़ोडाश तैयार करना, अग्निका संरक्षण ।

(३) **होता**—इनका काम है देवताओंको आह्वान करना । अग्नि स्वयं देवताओंके होता, मुख्यस्वरूप हैं । शुद्ध और संयत होकर, बहुत दिन पहलेसे अग्निका ध्यान करनेसे इनके सब तत्त्व अग्निमय होगये हैं और इनके आह्वानसे देवगण यज्ञभूमिमें आये बिना नहीं रह सकते ।

(४) **ब्रह्मा**—ये वेदमंत्रोंमें सुपारग, मंत्रोंकी व्याख्या करनेमें सुदक्ष होंगे । इनका काम है देखना कि तत्त्वदृष्टिसे सब काम ठीकसे हो रहा है ।

(५) **उद्गाथा**—यज्ञके समय सामगान करते हैं ।

(६) **यजमान**—"यजमानो वै पशुः"–ये हैं यज्ञके प्रधान अनुष्ठाता, यज्ञके पशु । ये बहुत दिनोंसे यज्ञके रहस्यका चिन्तन करके पूर्ण शुद्ध हो गये हैं । अब ये भगवानको पूर्ण आत्मनिवेदन कर, अपने सब तत्त्वोंकी आहुति देकर, देवत्व लाभ करते हैं, शिवमय होजाते हैं ।

यज्ञका उत्सव इस प्रकार अनुष्ठित होना चाहिए कि जिससे यज्ञके अनुष्ठाता, दर्शक, सहायक सब यज्ञके भावसे परिभावित हो जाँय ।

अग्नितत्त्व

अग्नि शब्द 'अग्' धातुसे बनता है । जो गति-प्राप्त हैं, परणत विवर्तित होते हैं, जो सृष्टि-स्थिति-लय कर्ता हैं, वे ही अग्नि हैं । "यन्मादस्य यतः" सूत्रके अनुसार 'अग्नि' शब्दका मुख्य अर्थ है 'ब्रह्म' । अग्नि शिव हैं, शिवकी विमर्श शक्ति हैं, समस्त शक्तिके मूलाधार (Power House) हैं । जो शक्ति-संचार करते हैं, जीवन-दान करते हैं, जीवित रखते हैं, जीवकी सत्त्वा-चैतन्य-आनन्दके वर्धक हैं, जीवकी भगवत-प्राप्तिमें सहायक हैं, वे ही अग्नि हैं । अग्नि-तत्त्व ब्रह्मतत्त्व हैं, यह वेदका अन्नाद अथवा प्राणतत्त्व है । शब्दरहस्य द्वारा

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

ज्ञात होता है कि अग्निका मुख्य अर्थ ब्रह्म है; गौण अर्थ है विभिन्न तत्त्वोंमें, कोशोंमें अधिष्ठित विभिन्न देवता अथवा ब्रह्मका प्रकाश। सहस्रारमें अग्नि ब्रह्म हैं, आज्ञाचक्रमें देवस्य भर्ग (ब्रह्मज्योति), अनाहतमें प्राण, मणिपुरमें वैश्वानर, मूलाधारमें स्थूल अग्नि। पंचाग्नि पंचचक्रमें, पंचकोशमें, अवस्थित प्राणशक्ति है। द्रव्यात्मक, भावनात्मक, केवलात्मक यज्ञोंकी आहुतियाँ भी प्रतीक स्थूल अग्नि, सूक्ष्म प्राणाग्नि और कारण आत्माग्निका रहस्य प्रकाशित करती हैं। अग्नि देवताओंके दूत, बाइबिलके होली घोस्ट (Holy Ghost), पुराणोंके भूत-भविष्य-वर्तमान संबन्धकारक नारद ऋषि हैं। सारांश, अग्नि स्वरूपतः ब्रह्म, गौणतः ब्रह्मचैतन्य, पंचदेवता, विभिन्न चक्रोंमें अवस्थित ब्रह्मशक्ति अथवा भर्ग हैं।

आवाहनका अर्थ है सब केन्द्रोंको, सब तत्त्वोंको, अग्निके आविर्भाव द्वारा अग्निमय, शक्तिमय, ब्रह्ममय बनालेना। अग्निके चयनका अर्थ है सर्वत्र ब्रह्मानुसन्धान, ब्रह्मानुभूति, ब्रह्मकी शक्तिकी पूर्णानुभूति लाभ करना। अग्नि-चयनके समय षट्चक्रभेद, कुण्डलिनी जागरण, पंचकोश-विवेक चिन्तनीय हैं। पहले नेति-नेति साधना द्वारा सहस्रारमें भगवद्धाममें जाना होगा; वहाँ पहुँचकर अग्निका प्रकृत स्वरूप जानना होगा; इसके बाद अग्निको सब तत्त्वोंमें नीचे ले आना होगा, सब तत्त्वोंको तद्भावसे परिभावित करना होगा। सप्त व्याहृतियुक्त गायत्री मंत्रमें यही अग्निके (भर्गके) निकट जानेकी, अग्निका स्वरूप अवधारण करनेकी एवं अग्निको सब तत्त्वोंमें आवाहन कर, सब तत्त्वोंको भगवतभावसे परिभावित करनेकी व्यवस्था है (Detcent of the Divine)। सुतरां अग्नि स्वरूपतः ब्रह्म हैं, गौणतः भर्ग, प्राण, वैश्वानर, स्थूल अग्नि हैं। अग्निके आवाहनका अर्थ है—भगवत-अवतरण द्वारा सब तत्त्वोंको भगवत-भावमें परिभावित करना। ध्यानमें रखना चाहिए कि देहमें स्थित विभिन्न चक्र ही असलमें हवनकुण्ड हैं।

यज्ञमें अग्निके साथ सर्वदा सोमका उल्लेख देखनेमें आता है। वेदके अधिकांश मंत्र अग्नि और सोम, प्राण और रयि, अन्न और अन्नादके तत्त्वसे पूर्ण हैं। अग्नि और सोमके प्रकृत रहस्यको जाने बिना जगत-रहस्य, साधन-रहस्य,

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

भगवतलीला-रहस्य समझना असम्भव है। असली (प्रकृत) सोम अमृतरूपमें परम देवता प्रकृत अग्निकी तृप्ति विधान करता है। विविध परिणाम-प्राप्त सोम देहके विभिन्न चक्रोंमें, विभिन्न कुण्डोंमें, अवस्थित विभिन्न अग्नि देवताओंको आप्यायित करते हैं। "अग्नि वै देवानाम् मुखम्"—अग्नि देवताओंके मुख हैं। अग्निमुखसे देवगण यज्ञभाग ग्रहण करते हैं। आहुत हविः अमृतमें परिणत होकर देवताओंका आहार बन जाता है। हविः देवताओंका जीवन है। तिल, तण्डुल, घृतादि हविर्द्रव्य हैं। अग्निमें अर्पित होते हैं। इसलिए अग्निके भक्षणके माध्यम-से देवताओंको भोजन-क्रिया निष्पन्न हो जाती है। अग्निका काम है अर्पित पदार्थको शुद्ध कर ऊपरके तत्त्वोंमें पहुंचा देना।

तंत्रमतानुसार मूलाधारमें अवस्थित अग्निका काम है भुक्त द्रव्यको रसमें परिणत कर मणिपुरमें पहुँचा देना और असार अंशको मलरूपमें बाहर निकाल देना। मणिपुरस्थ अग्नि इस रसके सार अंशको रक्तमें परिणत कर ऊपर अना-हतमें प्रेरण करती है और असार अंशको मूत्ररूपमें बाहर निकाल देती है। अनाहतस्य अग्नि तब रक्तको वीर्यमें परिणत कर ऊपर प्रेरण करती है और असार अंशको नीचे निक्षेप कर देती है। विशुद्धाख्यस्थ अग्नि तब इस वीर्यको शुद्ध कर ओजस्‌में परिणत कर ऊपर आज्ञाचक्रमें प्रेरण करती है। आज्ञाचक्रकी अग्नि इसे सुधा, प्रकृत सोममें परिणत करे तो यह सहस्रारस्थ सुधासागरमें, आनन्दमय कोशमें जाकर जमा होता है। तब यह सोम शिवको तृप्त कर नीचेकी तरफ क्षरित होता है। तब नीचेके तत्वोंके देवताओंको तृप्त करता हुआ अन्नमयकोशमें आता है। वहाँ सुरक्षित रहे तो फिर यह उर्ध्वगामी होकर साधकको ऊर्ध्वरेता बनाकर प्रचुर शौर्य, वीर्य, ज्ञान, आनन्द दान करता है। इसीलिए अग्निके इस कार्यको शुद्धिकरण (Distillation) और सोमके कार्यको आप्यायन कहा जाता है। सोमका अवतरण साधनराज्यमें 'वृष्टि' नामसे वर्णित है। देवताओंको भोग्य सोम अर्पण करना ही यज्ञ है। इसके द्वारा जगतचक्र, देहचक्र चालित हैं। अन्नको शुद्ध कर प्रकृत सोममें परिणत कर देवताओंको तृप्त किया जाता है और देवगण तृप्त होकर जीवकी तृप्ति-विधान करते हैं। इस आदान-प्रदान क्रिया

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

द्वारा इहलोक और परलोकका कार्य साधित होता है। देवगण स्वतःसिद्ध रूपसे मनुष्यका कार्य नहीं कर सकते। मनुष्य यज्ञ द्वारा देवताओंकी सहायतासे अपना प्रयोजन सिद्ध कर लेता है। हम अग्निकी सहायतासे देवताओंको तृप्त करते हैं और देवगण सोमकी सहायतासे जीवजगतकी तृप्ति-विधान करते हैं। सुधासे हमारे सब तत्व आप्यायित होजाते हैं। यह ब्रह्मयज्ञ अथवा भगवतलीला अज्ञात रूपमें दिन-रात हमारे भीतर हो रही है। जब साधककी अन्तर्दृष्टि खुल जाती है, तब फिर अग्निका आवाहन नहीं करना पड़ता। अपने प्रत्येक तत्वमें यह भावनात्मक यज्ञ साधककी उपलब्धिमें आजाता है। तब साधक क्रमशः पूर्ण परिणति लाभ कर प्रकृत यजमान ('यजकानो वै पशुः') हो जाता है और उसके भीतरसे पूर्णाहुति साधित होकर, केवल शिव अवशिष्ट रह जाते हैं। 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' तब सुन्दर रूपसे अनुभवमें आता है।

वैदिक यज्ञके संबन्धमें और भी दो एक बातें ध्यानमें रखनी चाहिए। वैदिक युगमें अग्नि जलाना इतना सहज नहीं था; इसीलिए अग्निरक्षाकी ओर इतनी दृष्टि थी। बालगंगाधर तिलकका मत है कि प्राचीन आर्यगण हिमप्रधान देशमें रहते थे, इसीलिये अग्निकी रक्षाकी ओर उनकी इतनी दृष्टि थी, किन्तु यह मत सबको मान्य नहीं है। अग्निकी वर्णनासे मालूम होता है कि ऋषियोंने अग्निको केवल स्थूल अग्निमें पर्यवसित नहीं किया। उनका अधिक लक्ष्य था प्रकृत अग्नि ब्रह्माग्निकी ओर। स्थूल अग्नि उसका प्रतीकमात्र है। असली बात यह है कि आचार्यके घरमें अग्नि प्रज्वलित रहती थी और ब्रह्मचारीगण रोज शामको उसमें एक मुठ्ठा समिध (यज्ञीय काष्ठ) डालते थे। अग्नि जलाकर रखनेकी प्रथा सभी प्राचीन देशोंमें देखनेमें आती है। ग्रीस और रोममें कुमारीगण अग्निकी रक्षामें नियुक्त रहती थीं। प्राचीन वैददिक युगमें त्रिविध अग्निका उल्लेख मिलता है—गार्हपत्य, आहवनीय, दक्षिणाग्नि। अग्निशालामें एक चतुष्कोण वेदी रहती थी। उसके पश्चिम दिक्में चतुर्भुजाकार गार्हपत्य, पूर्वकी ओर गोलाकार आहवनीय, दक्षिणकी तरफ अर्धवृत्ताकार दक्षिणाग्निका स्थान निर्धारित था। गार्हपत्य अग्निसे साधारणतः स्मार्त यज्ञ किये जाते थे।

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

यज्ञ साधारणतः दो भागोंमें विभक्त था (१) श्रौत यज्ञ–जैसे अग्निहोत्र, अग्निष्टोम, अश्वमेध, राजसूय, इत्यादि। बौद्ध प्रभावसे ये लुप्तप्रायः होगये। (२) स्मार्तयज्ञ —स्मार्त यज्ञोमें पंचमहायज्ञ, आदि प्रसिद्ध हुए। गार्हपत्य अग्नि गृहस्थकी प्रतिनिधि थी। अग्नि थी गृहस्थालीका प्रतीक; अग्नि-रक्षा गृहस्थका प्रधान धर्म था; गृह ही समाजका unit था; पिता सर्वमय कर्त्ता थे; अग्निमन्थन एक उत्सवविशेष था।

●

हवनीय द्रव्य

'सर्वं वेद्यं हव्यं'–तंत्रका यह वचन वेदके अन्नतत्त्वका स्मरण कराता है। वेदमें सब तत्त्व अन्न और अन्नाद, रयि और प्राण, भोग्य और भोक्ता–इन दो भागोंमें विभक्त हैं। अन्नाद वे हैं जो अन्नका भोजन करते हैं। मुख्य अन्नाद स्वयं उत्तम पुरुष हैं। अपने आनन्दको स्वयं आस्वाद करनेके लिए उनकी यह सृष्टि, परिणति या विवर्तन है। उनके अलावा जो कुछ है, वह सब उनका अन्न है। वे स्वयं ही अन्न बने बैठे हैं। अन्नाद स्वयं शिव हैं, अन्न तंत्रोक्त पैंतीस तत्त्व हैं। इन सब तत्त्वोंमें शिव अनुप्रविष्ट हैं। इसलिए ऊपरके तत्त्व नीचेके तत्त्वों के अन्नाद या भोक्ता हैं और नीचेके तत्त्व यथाक्रम ऊपरके तत्त्वोंके अन्न हैं। यज्ञमें नीचेके तत्त्वोंको ऊपरके तत्त्वोंमें आहुति देकर शिवमें पर्यवसित करना होता है (तुलनीय षट्चक्रभेद)। 'इदं' पदार्थ अन्न हैं। मुख्य अन्नाद स्वयं परमात्मा हैं। गौण अन्नाद साधारणतः कर्ता-भोक्ता-भाव युक्त 'अहं' पदार्थ हैं। परमात्माके लिए श्रेष्ठ अन्न है जीवात्मा, इसके बाद चित्त, अहंकार, बुद्धि, मन, प्राण, इन्द्रियादि एवं इनके भोगके समस्त उपकरण। एक शब्दमें हमारा कहकर जो कुछ है, वह सब उनका अन्न है। प्रथम अन्न आत्मा है, इसके बाद पति-पत्नी, माँ-बाप, पुत्र-पुत्री, बन्धु-बान्धव, देह, गेह, धन, खाद्य, वस्त्र, अलंकार, इत्यादि सब हवनीय द्रव्य हैं। ये सब भगवानको निवेदन कर, मन-ही-मन अनु-

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

भव कर कि ये सब उनके हैं, हमारे नहीं, इनको उनके प्रियकार्यमें, जीवकी सेवा-में लगाना होगा। "सर्वं त्वदीयं इति मे प्रियमेव सर्वं त्वत् प्रीतये सततमेव नियोजयानि"। सर्व वेद्यं हव्यं–जो कुछ जाना, पाया, भोग किया जाता है, वह सब हव्य है। जीवजगत हव्यकी श्रेणीमें आता है।

यज्ञमें पशुका प्रयोजन होता है। यह पशु बकरी या भैंसा नहीं है। यह पशु है यजमान स्वयं–'यजमानो वै पशुः'। इस पशुको अष्टपाशसे मुक्त कर, शिव-में परिणत कर, यजमानको अनुभव करा देना कि वह पशु नहीं है, स्वयं पशुपति है, यज्ञका उद्देश्य है। इसलिए यजमान अपने सब तत्त्वोंकी, प्रतीकरूपमें अपने सब आत्मीय अनात्मीय प्रिय पदार्थोंको, यज्ञमें आहुति प्रदान करता है। यह त्याग सर्वश्रेष्ठ दान है। यह त्याग किया जाता है भगवत्-तृप्तिके लिए, भगवत-सेवाके लिए। यजमान स्वयं भी एक जीव है; इसलिए हव्य पदार्थ सबको वितरण करके जो बचे उसे अपने भोग, देहकी रक्षा और कल्याणके लिए लगा सकता है।

प्रकृत हवनीय द्रव्य है यजमान स्वयं, उसकी देह और आत्मा। उसे अपने जीवनको आदर्श रूप में तैयार कर भगवत-कार्यमें, जीवसेवामें लगाना होगा। बादको, अपने बदले आगया दूसरा मनुष्य, पशु, पुड़ोडाश (बनाया हुआ मनुष्य), यजमान-की मूर्ति और उसके प्रिय द्रव्यों का नमूना। देह और आत्माके स्थानपर आगये पिष्टक और हवि या दुग्ध—इड़ा, सोम।

हवनीय द्रव्य ये हैं :—

(१) **ज्ञानयज्ञके लिए**—अविद्या, अध्यास, कामना, वासना, आसक्ति मनकी कल्पनाएँ, अज्ञानता, त्रिविध एषणा, समस्त 'इदं' पदार्थ—नामरूप (Phenomena) व्यष्टि आत्मा।

(२) **भावनात्मक यज्ञके लिए**—सब व्यष्टि समष्टि तत्त्व, इनकी क्रियाओंमें भगवत-लीला दर्शन करना, सत्यप्रतिष्ठा और प्राणप्रतिष्ठाके सब उपकरण।

(३) द्रव्यात्मक यज्ञके लिए आवश्यक पदार्थोंकी सूची ११० पृष्ठपर दी गयी है।

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

निष्क्रय तत्त्व

निष्क्रयका अर्थ है—एकके बदले दूसरेको अर्पण करना। भगवान जगतकी सृष्टि करके उसमें प्रवेश कर गये ('तत् सृष्टा तदेवानुप्राविशत्')। सब तत्त्वों और सब पदार्थोंमें वे अधिष्ठातृ देवता रूपमें बैठे लीला कर रहे हैं। विभिन्न तत्त्वों और विभिन्न पदार्थोंमें भगवानके प्रकाशका नाम है 'देवता'। इसलिए मूलमें देवता एक ही हैं लेकिन वे बहुरूपमें प्रकाशित हैं। ये मनुष्यके भाग्य-फलके दाता हैं। इन्हें प्रसन्न कर अपना मनोरथ पूरा करा लेनेकी प्रवृत्ति सब देशों और समाजोंमें देखनेमें आती है। देवगण बहुत बातोंमें हमारे ही तरह हैं किन्तु हमसे श्रेष्ठ हैं, हमारा अभाव पूर्ण करनेमें समर्थ हैं। इसलिए हमारे नमस्य और उपास्य हैं। ये हमारे प्रदत्त अन्नादि प्राप्त कर एवं स्तव-स्तुति-सेवासे तृप्ति बोध करते हैं। मनुष्य अपने भावोंको देवताओंमें आरोप कर तृप्ति बोध करता है। इसीके फलस्वरूप हम देवताओंको पाद्य-अर्घ्य-धूप-दीप-नैवेद्य अर्पण कर, उन्हें खुश करके, अपना स्वार्थ सिद्ध करनेकी चेष्टा करते हैं। देवताओंको इन चीजोंकी जरूरत न भी हो, लेकिन हमारी दान करनेकी प्रवृत्ति, भक्ति, श्रद्धा देखकर वे प्रसन्न होते हैं। वे अन्तर्यामी हैं, हमारे सब मनोभाव जानते हैं, उनसे कुछ छिपा नहीं है, लेकिन तब भी अपने मनोभाव उन्हें बतानेसे, अपने किये हुए पाप उनके आगे स्वीकार करनेसे खुश होते हैं। यहूदियोंमें देवताके आगे अपने पाप स्वीकार कर (Sin offering) पापमुक्त होनेकी व्यवस्था है। Roman Catholics के Confesson of sin में भी यही तत्त्व निहित है। ईसाइयोंके मतानुसार जीवमात्र ही पापी हैं। हमारे "पापोऽहं पापकर्माहं" इत्यादि मन्त्र भी यही भाव प्रकाशित करते हैं। बहुत लोगोंका ख्याल है कि यह भाव नितान्त विदेशी है। सब देशों और समाजोंमें देवताके निमित्त स्वार्थ त्याग करना, जीवन उत्सर्ग करना, सर्वश्रेष्ठ दान माना गया है। बहुतसे देशोंमें यह चरम दान, अपना जीवन उत्सर्ग करना, नरबलिके रूपमें आगया। भगवानके लिए अपनी आत्माहुति देनेमें बहुत थोड़ेसे लोग ही समर्थ हैं। इसीलिए अपने बदले अपने

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

किसी प्रियजन या प्रिय पदार्थको उत्सर्ग करनेकी प्रथा आ गयी। देवताको तृप्त करके देवत्व लाभ हो या न हो, लेकिन प्रायः सभी देशोंमें नरबलिकी प्रथा चल पड़ी। प्राचीन यहूदी, ग्रीक, रोमन सब नरबलि करते थे। अपना जीवन भगवत-कार्यमें उत्सर्ग करनेके बदले, अपने ज्येष्ठ पुत्र, एकमात्र पुत्र और बादको दूसरे घरोंके अच्छे-अच्छे लड़कोंको चुरा कर बलि देने लगे। कहीं-कहीं लड़कोंको खरीद कर, पढ़ा-लिखाकर, हृष्ट-पुष्ट करके, बलि दी जाती थी। इसीके प्रतीक रूप आज भी पशुको स्नान कराके, पूजा करके, देवभावापन्न करके बलि दिया जाता है और उसका मांस खाकर देवत्व लाभ करनेकी चेष्टा की जाती हैं। सबसे मूल्यवान और श्रेष्ठ वस्तुको अर्पण करना परम त्याग माना जाता था। अपुत्रक पुत्र प्राप्त करनेके लिए, देशमें अतिवृष्टि, अनावृष्टि, मारक-भीति निवारण करनेके लिए पशुबलि और नरबलि की मानत बोली जाती थी। प्राचीन भारत, ग्रीस, रोममें इसके बहुत प्रमाण मिलते हैं। ऐतरेय एवं कौषीतकि ब्राह्मणमें उल्लेख है कि राजा हरिश्चन्द्रकी सौ पत्नियाँ थीं, लेकिन वे अपुत्रक थे। उन्होंने वरुण देवताकी आराधना की और प्रथम पुत्र की बलि देनेकी मानत बोली। किन्तु पुत्र रोहितके पैदा होनेपर वे ममतावश बलि नहीं देसके और उदर रोगसे ग्रस्त हो गये। तब रोहितने अजिगर्तके मध्यम पुत्र शुनःशेपको मूल्य देकर खरीदा। पाषण्ड पिता बहुत अर्थ प्राप्त कर अपने पुत्रकी बलि देनेको तैयार होगया। पुत्र देवभक्त था। बलिके समय उसके मुखसे वेदमंत्र निकलने लगे और देवताओंने सन्तुष्ट होकर उसे मुक्ति दान कर दी।

एकके बदले दूसरेको बलि देनेकी निष्क्रय प्रथा (Vicarious offering) ईसाई धर्ममें भी है। भगवान ईसाने जीवके कल्याणके लिए, जिहोवाके मन्दिरमें बलिकी प्रथा दूर करनेके लिए, अपने-आपको बलि रूपमें अर्पण किया था। लोग समझते थे कि पशुबलि या नरबलि देनेसे देवताओंका क्रोध शान्त हो जाता है। ईसा पूर्ण मानव तथा ईश्वर थे। पूर्ण मनुष्य होनेके कारण उन्होंने समस्त मानव जातिके प्रतिनिधिरूपमें अपना जीवन दानकर अपने रक्तसे जगतके पापको प्रक्षालित किया। पूर्ण मानव निष्क्रय प्रतिनिधि होकर यदि जगतके कल्याणार्थ अपना जीवन उत्सर्ग करे, जीवकी सेवाके लिए जीवन दान करे, तो

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

वास्तवमें ईश्वर प्रसन्न होते हैं और जीवका पाप दूर हो जाता है। आज भी ईसाई भक्त ईसाका रक्त और मांस, मदिरा और रोटी के रूपमें, मंत्रपूत करके खाते हैं और इस क्रियासे ईसाके भावसे परिभावित होकर, निष्पाप होकर, मुक्ति लाभ करनेकी चेष्टा करते हैं। ऐतरेय ब्राह्मणमें बताया गया है पुड़ोडाश पशुका आलम्बन है, सौत्रामणी यज्ञकी सुरा सोमलताका रस है। वेदपन्थी समाजमें यह निष्क्रय प्रथा बहुत मात्रामें प्रचलित थी। शतपथ ब्राह्मणमें उल्लेख मिलता है कि मनुष्यका निष्क्रय है अश्व, अश्वका गौ, गौका मेष, मेषका पृथिवी, पृथिवीका जौ, धान्य आदि। सुतरां यह पर्यायक्रमसे निष्क्रयरूप यज्ञके द्रव्य हैं। ईश्वर मनुष्यके प्रतिनिधि होकर स्वयं यज्ञके पशुमें, यज्ञीय द्रव्यमें परिणत होगये हैं।

एकबार आतमदान, यथासर्वस्व दान, हिंसात्मक बलिदानमें पर्यवसित हो गया। बादको हिंसात्मक भाव दूर करनेके लिए यज्ञको द्रव्यदानमें ले आये। किन्तु मूल त्यागका भाव रह ही गया। इसीलिए तो ईश्वर पशुमेघ यज्ञके, पशु हैं। सुतरां हमारे यज्ञीय द्रव्य ईश्वरके, आत्माके, यजमानके, आदर्श मनुष्यके, पशुके प्रतिभू हैं।

सार बात यह है कि यज्ञीय द्रव्यरूपमें अपनेको, अपने यथासर्वस्वको, सब प्रिय पदार्थोंको, भगवत-प्रीति के लिए, जीवकी सेवाके लिए, उत्सर्ग करना होगा। याज्ञिकका यह त्याग ही यज्ञ है। त्याग ही भारत के साधनभजनका सार तत्त्व है। इसी त्यागसे अमृतत्त्व लाभ होता है। 'त्यागेनैके अमृतत्व-मानशुः।'' जो द्रव्य आहुति दिये जाते हैं, वे सब केवल आत्नाके, अपने प्रियके प्रतिनिधि, प्रतीक; निष्क्रय, Substitute हैं! द्रष्टव्य रामेन्द्र सुन्दर त्रिवेदी-की ''यज्ञकथा''।

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

यज्ञका पशु

जो अपने-आपको जगतके कल्याणके लिए, भगवत्-प्रीतिके लिए दान करते हैं, वह यजमान ही यज्ञके पशु हैं—"यजमानो वै पशुः" । पशुपति यज्ञके लिए स्वयं पाशबद्ध होकर पशु होगये; जीव अब यज्ञ द्वारा पाशमुक्त होकर शिवत्व लाभ करे । शिवत्व लाभ करनेके लिए, कल्याणके लिए, यथासर्वस्व दान कर देनेसे आसक्तिका बन्धन कट जाता है और पशुत्व दूर हो जाता है । सर्वप्रथम भगवानके सिवाय तो कुछ नहीं था । इसलिये वे स्वयं अविभक्त विभक्त होगये, पशुरूपमें, जीवरूपमें, होता-हव्य-हवन, भोक्ता-भोग्य-भोजन, द्रष्टा-दृश्य-दर्शन रूपमें परिणत या विवर्तित हो गये । पशुपति स्वयं पशु न बनते तो लीला कैसे होती ? लेकिन उन्होंने यह पाश ग्रहण किया 'आनन्दप्राचुर्यात्'; अपनी लीलाका स्वयं आस्वादन करनेके लिए और करानेके लिए । पिता अपने स्वरूपका आस्वादन करनेके लिए पुत्र बन गये, पुत्ररूपमें जीवरूपमें अपने-आपको दान कर दिया । अब जीव अपना यथासर्वस्व, अपना जीवन दान कर, अपना पशुत्व दूरकर शिवत्व लाभ करता है । इस लीलाके रहस्यको, त्यागके मर्मको, न समझनेके कारण शिष्योंने, भीतरका भाव छोड़कर, ऊपरका छिलका लेकर, खींच-तान शुरू कर दी । इसीके फलस्वरूप आत्मोत्सर्ग, अपने जीवनका दान, हिंसात्मक बलिदानमें परिणत होगया ।

पहले शुरू हुआ अपने आत्मदानके बदले दूसरेको दान करना, प्रतिनिधि द्वारा यज्ञ कार्य कराना, गुरु पुरोहितोंसे पूजा निष्पन्न कराना, घूस देकर काशीर्वाद और गण्डे-तावीजके प्रभावसे कर्मफलके हाथसे छुटकारा पाना । इसके बाद आ गयी अपने साधन-संयम-त्याग द्वारा पापमुक्त होनेके, पशुत्व दूर कर मुक्ति लाभ करनेके, बदले वनके पशुको बलिदान कर मुक्ति लाभ करनेकी प्रथा । यज्ञका मुख्य कार्य है—अपना पशुत्व दूर करना होगा, अपने-आपको बद्ध जानकर उस बन्धनको काटना होगा । इसके लिए कामना-वासना-आसक्ति-सुखस्पृहा-प्रतिष्ठाका मोह, आदि जो कुछ हमें प्रिय हैं, जो रस्सीकी तरह हमें संसारमें जकड़े हुए

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

हैं, वह समस्त त्याग कर अष्टपाशसे मुक्ति लाभ करनी होगी। भगवत-प्राप्तिके लिए, पूर्ण आत्मनिवेदन के लिए, जो कुछ हमने अपना माना हुआ है, वह सब भगवानको दे देना होगा। ध्यानमें रहे कि भगवानको देनेका अर्थ है—सबको देना, विश्वके हितके लिए अपना सर्वस्व दान करना। काम बहुत कठिन है लेकिन इसका फल जो चरम शान्ति है, वह भी छोड़ा नहीं जा सकता।

ब्राह्मण भावसे हीन होते हुए भी हम ब्राह्मणका आधिपत्य कायम रखना चाहते थे। फलतः आगयी कपटता, आरम्भ हुई प्रनिनिधि-प्रथा, इसका परिणाम हुआ पशुबलि और नरबलि। इस कलुषित भावको दूर करने के लिए क्रमशः आ गयी पिष्टक और हवि प्रदान करनेकी प्रथा। यह पिष्टक यजमानका ही प्रतीक है। ईसाईयोंमें ईसाका प्रतीक हो गया—रोटी और मद। इन सब प्रतीकोंके आवरणके भीतरसे सारतत्त्व उद्धार करना होगा। इसके बाद अपने भीतरके पशुभावको बलिदान कर, भगवत-सेवामें जीवन उत्सर्ग कर, फिर शिवत्व लाभ करना होगा।

ज्ञानयज्ञके लिए अपना संकल्प-विकल्पात्मक अन्तःकरण ही यज्ञका पशु है।

●

आहुति-तत्त्व

आहुति शब्दका अर्थ है आह्वान करना, बुलाना—भगवानको, भगवत-शक्तिको देहमें, प्रत्येक तत्त्व और अवयवमें, मन-प्राण-चित्त-बुद्धि एवं आत्मामें आवाहन करना होगा। बुलाया तो उसको जाता है, जो दूर हो, जो सर्वव्यापी हैं, उन्हें बुलाना कैसा ? भगवानको बुलानेका अर्थ है—उपलब्धि करना कि वे व्यष्टि-समष्टि रूपमें सर्वत्र विराजमान हैं, वे स्वयं सब तत्त्व बने बैठे हैं। अर्थात् सत्य प्रतिष्ठा लाभ करना।

'आहुति' का एक और अर्थ है—दे-देना, निवेदन करना। प्रथमतः हवनीय द्रव्योंको, पूजाके उपकरणोंको, शुद्ध कर, भगवत-भाव से परिभावित कर, उनके

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

ग्रहणयोग्य कर, उनमें भगवत-सत्ताकी उपलब्धि करनी होगी। अर्थात् समझना होगा कि इन सब रूपोंमें वे ही स्वयं आये हैं। तब साधक अनुभव करता है कि यह सब द्रव्य और उपकरण मेरे नहीं हैं—न मैंने बनाये, न मेरे साथ जायेंगे। ये सब उन्हींके हैं—"सर्वं त्वदीयं इति मे प्रियमेव सर्वं"। इस प्रकारके चिन्तनके परिणामस्वरूप देह, देहके सब तत्त्वों, बन्धु-बान्धवों जगतके सब पदार्थोंमें 'निर्मम' भाव आ जाता है। तब साधक सोचता है कि मेरा देना तो केवल गंगा जलसे गंगाकी पूजा करनेके भाँति हैं—सब उन्हीं का तो है। "प्रतीच्छ हे स्वस्य धनं स्वयं त्वं, किंचित् निजस्वं नहि विद्यतेमे यद्दीयते त्वच्चरणे मुकुन्द"। तब साधकके अनुभवमें आता है कि यह सब देना-लेना तो भगवानकी लीला है, वह तो केवल द्रष्टा हैं। तब साधकके चित्तमें छिन्नमस्ता तत्त्वका स्फुरण होता है कि भगवान ही भोक्ता-भोज्य-भोजन, कर्ता-कर्म-करण, आदि समस्त त्रिपुटियों में परिणत या विवर्तित हैं। यह सब भगवानकी लीला है। अब मुझे अपनी अहंता-ममता रखनेका कोई कारण नहीं। तब साधक हवनके द्वारा आत्मनिवेदन कर परम शान्तिपदका, ब्राह्मी-स्थितिका अधिकारी हो जाता है।

आहुति दी जाती है—अपने स्वामित्वबोध (मिल्कियत) की और अपने कर्ता-पनकी। फलतः हम निर्मम-निरहंकार हो जाते हैं और लाभ होती हैं परम शान्ति एवं भगवत-प्राप्ति।

पूर्णाहुति

यज्ञकी अर्पण क्रिया द्वारा अपनेको अपने सब तत्त्वोंको पूर्णरूपेण भगवानको समर्पण, आत्मनिवेदन करनेका नाम है 'पूर्णाहुति'। आहुतिके द्रव्य पूर्ण होने चाहिए—कुछ बाकी न रह जाय—"विश्वं जुहोमि वसुधादि शिवावसानम्"। जो आहुति दे रहा है, उसे पूर्णत्व लाभ कर पूर्ण विकसित होना चाहिए। जिनको आहुति दी जा रही है, वे भी पूर्णस्वरूप अर्थात् सारतत्व होने चाहिए। सब देव-ताओंके माध्यमसे मूल परम देवता पूर्ण ब्रह्मके निकट सब आहुत द्रव्य पहुँचने

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

चाहिए—यह तत्त्व पूर्णतः अनुभवमें आना चाहिए। "ब्रह्मार्पणं ब्रह्महविः" मंत्र सार्थक हो जाना चाहिए। पूर्णस्वरूपकी उपलब्धिके लिए पहले हमें स्वयं पूर्णत्व लाभ करना होगा। इसके लिए हमें अपने इन्द्रिय-प्राण-मन बुद्धि-चित आदि तत्त्वोंको शुद्ध और शान्त कर, भगवत-शक्ति, भगवत-भाव द्वारा पूर्ण विकसित कर, पूर्णत्वकी धारणा करनेकी योग्यता लाभ करनी होगी। पूर्णरूपेण विकसित होकर पूर्णत्व लाभ करने पर ही हम समझ सकेंगे कि पूर्णत्व का अर्थ है उन असल पूर्णके स्वरूपकी उपलब्धि। तब समझमें आयेगा कि हमारा पुर्णत्व उनके पर्णत्वके अन्तंगत है। पूर्णत्व एक ही हो सकता है—दो पूर्णत्व नहीं हो सकते। तब यह तत्त्व अनुभवमें आयेगा कि हमारा पूर्णत्व उनके पूर्णत्वमें स्वतः ही आहुत और अर्पित है।

पूर्णता लाभ हो जानेके बाद हमारी इच्छा उनकी इच्छासे पृथक् नहीं हो सकती—"तस्मिन् तज्जने भेदाभावात्"। तब जीवात्मा (God the Son) परमात्मा (God the Father) में लीन हो जाता है—त्वं-पदार्थ तत्-पदार्थमें जाकर पर्यवसित हो जाता है। पूर्णाहुतिके समय यजमान अपनेको पूर्ण कर, अपने पूर्णस्वरूपकी उपलब्धि करके, अपने सब तत्त्वोंको पूर्ण विकसित कर, पूर्णके सहित पूर्णतः मिलित हो जाता है। फिर उसका पृथक् अस्तित्व नहीं रह जाता। अब उसके सोलहों आने अर्पित हो गये—उसका कर्मफल कुछ भी बाकी नहीं रहा। दुःखका विषय हैं कि अब सर्वस्व-अर्पण केवल सोलह आने पैसे दान करनेमें और किसी एक वृक्षका फल त्याग करनेमें पर्यवसित हो गया है। पूर्णाहुतिके फलस्वरूप यजमान भगवानके विश्वयज्ञमें पूर्णतः सहायक हो जाता है। तब उसके भीतरसे भगवदिच्छा पूर्ण सफलता प्राप्त करती है—"पूर्णा भवत्वनुदिनं मयि ते शुभेच्छा" सार्थक हो जाता है।

पूर्णाहुतिके समय हमारे आहुत द्रव्य पंचाग्निके माध्यमसे शुद्ध होते-होते सुधामें परिणत होकर पुरुषोत्तमको अर्पित हो जाते हैं। विश्व पाँच स्तरोंमें विभक्त है। अग्निको एवं अग्नि द्वारा शोधित सोमको भी पाँच भागोंमें विभक्त किया गया हैं। पाँच अग्नियोंमें—आहार्य, रक्त, वीर्य, ओजस् और अमृत; इन पाँचोंकी यथाक्रम आहुति देनेके फलस्वस्वरूप अवशिष्ट रह जाता है—एक मात्र

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

आनन्द । इस यज्ञावशेष आनन्दसे हमारे सब तत्त्व पूर्णतः आप्यायित हो जाते हैं । तब हमारे सब अवयव पूर्ण परिणत, इन्द्रियाँ पूर्ण शक्तियुक्त, चित्त पूर्णतः समाहित, भगवानके सहित युक्त हो जाता है । तभी हमारे सब तत्त्वोंके माध्यमसे भगवदिच्छा पूर्णरूपेण सफल होती है । तब हमारी पृथक् इच्छा कह कर कुछ नहीं रह जाता । अर्थात् इस आन्दोलनको भी परम प्रियतमको प्रदान कर हम चरम अखण्ड अद्वय तत्त्वमें पहुंच जाते हैं । सुतरां पूर्णाहुति द्वारा हम पूर्णत्व लाभ करते हैं । तब ससीम असीममें, 'त्वं' 'तत्'में, 'इदं' 'अहं'में पर्यवसित हो जाता है । हम पूर्णाहन्ता अवस्था लाभ करते हैं । अर्पणक्रिया द्वारा समस्त द्वन्द्व भाव अखण्य अद्वय तत्त्वमें पहुँच जाते हैं । तब सब देना-लेना शेष हो जाता है । तब आत्मभाव अनात्म सत्तासे प्रत्याहृत होकर अपने स्वरूपका आश्रय लेता है । मंत्र है—'ॐ यज्ञः यज्ञपतिं गच्छ स्वाहा' । तब यज्ञ यज्ञपतिमें लीन हो जाता है । आस्वादित होता है 'एकमेवाद्वितीयम्' तत्त्व ।

●

इड़ा, सोम एवं हविःशेष-भक्षण

इड़ा—अदिति, सरस्वती, भारती अर्थात् भगवानकी इच्छा, ज्ञान और क्रिया शक्ति । ये एककी तीन हैं और तीनों 'एक' हैं । सरस्वती एक नदी भी कही जाती है, जिसके स्रोतको फिरा कर, मरुभूमिको शस्य-श्यामला बना कर, एक दिन कवष ऋषिकी पिपासा बुझायी गयी थी । मनुकी कन्याका नाम भी 'इड़ा' था, जिससे चन्द्रवंश की उत्पत्ति हुई । फिर 'इड़ा' वाग्देवी (Word of God) शब्दब्रह्मतत्त्व भी है जिससे जगतकी सृष्टि-स्थिति-लय क्रिया साधित होती है । इस तत्त्वको ईसाई मतमें भी स्वीकार किया गया है । इड़ाको भक्षण करके अर्थात् ब्रह्मविद्याको आत्मस्थ करके, देवमय हो जानेकी विधि है—सब कर्मोंमें सिद्धि लाभ की जाती है । ईसाई मतमें 'इड़ा' ईसाका रक्त-मांस है अर्थात् स्वयं ईसा । सुतरां 'इड़ा' स्वयं यजमान, 'इड़ा' पशु, वाग्देवता, शब्दब्रह्म (Word of God), ईसाईयोंके ईसा हैं । यह 'इड़ा' ही यजमानके पशुका प्रतीक, पुरोडाश, ईसाका मांस है । "[illegible] पुरोडाश" "[illegible]" "[illegible]" ।

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

यह 'इड़ा' ही तंत्रशास्त्रकी मात्रिका हैं—अविभक्तिकी विभक्ति,असीमका सीमाबद्ध भाव, पशुपतिका पशुत्व। इड़ाके आवाहनके मंत्रमें कहा गया है, "हे इड़ा! तुम वाग्देवी, भारती हो। सबके भीतर आविर्भूत हो, सबके भीतर हम तुम्हारा दर्शन करें। यह इड़ा तुम्हारा ही प्रतीक है। इसे भक्षण कर, सबके भीतर इसका दर्शन कर, हम सब एकताबद्ध होंगे"। "संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम्"। इड़ाके आवाहन मंत्रसे ज्ञात होता है कि यह पापोंका नाश कर, स्वर्गमें लेजाकर, अमृत दान करनेमें समर्थ हैं। वैदिक यज्ञमें इड़ा यज्ञावशेष, यज्ञसे उत्पादित सारतत्व अर्थात् ब्रह्मज्ञान है, जिसे भक्षण करके अमृतत्व लाभ होता है। इड़ा पुरुषकी यजमानकी प्रतीक है। यज्ञीय पुरोडाश मंत्रपूत होकर भगवानमें भगवत्तत्वमें परिणत होता है, जिसे भक्षण करके मनुष्य देवत्व अमृतत्व लाभ करता है।

ईसाने मृत्युसे एकदिन पहले रोटी काटते समय (Breaking of the bread) कहा—"This is my body which is broken for many for remission of sins....I am the bread of life. He that eateth my flesh and drinketh my blood dwelleth in me and I in him Except ye eat the flesh of the son of man, drink his blood ye have no life in you. Whoso eateth my flesh and drinketh my blood has eternal life." ईसाई धर्मके इस देवता–भक्षणके साथ (Eucharistic Sacrifice) वेदका इड़ा और सोमात्मक यज्ञावशेष-भक्षणका सादृश्य चिन्तनीय है। ईसाके मांस और रक्तके भक्षणका अर्थ है—ईसाके समान देह, मन और प्राण लाभ करना। इड़ा-भक्षण और सोमपान, पूजाका प्रसाद खाना, यज्ञपुरुषको, यज्ञतत्त्वको आत्मस्थ करना, उसे याद रखना, तद्भावसे भावित होना, तन्मयता लाभ करना—ये सब समानार्थक हैं। इसके साथ तुलनीय हैं–साधक राम प्रसादका संगीत—'ए बार काली तोमाय खाबो'!

सोमपान—सोमसुधा, सहस्रार विगलित सुधा, गंगा, ब्रह्मज्ञान है जो सब तत्त्वोंको आप्यायित करता है। यह सोमरूप अमृत अथवा शोधित सुरा प्रायः सब देशोंमें साधनामें व्यवहार किया जाता था। ईसाई यज्ञमें यह मद्य (सुरा) है—ईसाके रक्तका प्रतीक है। मंत्रपूत होकर यह ईसाके रक्तमें परिणत होता

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

था और इसे पान कर देवत्व लाभ किया जाता था। यहूदी देवता जिहोबाको तृप्त करनेके लिए पशुका रक्त-दान किया जाता था। सोम आनयनके मंत्र और विधिसे मालूम होता है कि यह सहस्रार विगलित सुधा या सोमधारा हैं, जिसे पान कर साधक अमृतत्व लाभ करता है—"सोमधारा क्षरेत् या तु ब्रह्मरन्ध्रात् वरानने"। तांत्रिकगण हंसवती मंत्र पाठ करके आज भी प्रतीक सुराको सोममें (अमृतमें) परिणत करते हैं। सोम-पान करके हमारे सब पाप दूर हो जाते हैं, हम अमर हो जाते हैं; ज्योतिर्मय धाममें प्रवेश लाभ करते हैं, देवताओंसे परिचित हो जाते हैं। सोमपानके मंत्रोंसे यह ज्ञात होता है कि सोम तात्त्विक दृष्टिसे अमृत और व्यावहारिक दृष्टिसे कोई अमृत-कल्प पानीय द्रव्य है। सोमपायीको वाग्देवी आकर अमृतत्व दान करती हैं। सोमपानसे ब्रह्मस्वरूप प्राप्त होता है।

प्रतीकका अवलम्बन कर आराधना-पूजा करना सब देशोंमें प्रचलित है। कालक्रमसे अमृतके स्थानमें सुरा विशेष आ गयी। वेद और आवेस्ताके मतानुसार सोम एक प्रकारकी औषधविशेष है, जिसका नामान्तर मधु है। यह मादकता पैदा करता है, वाक्यमें स्फूर्ति देता है और शरीरमें बल प्रदान करता है। जो व्याधि दूर करता है वही अमृतत्व भी दान करता है। सोमभागसे मालूम होता है कि सोम एक प्रकारकी पहाड़ी वनस्पति है, जिसे महादेव मस्तक पर धारण करते हैं। अवश्य महादेवका सोमको मस्तकपर धारण करनेमें एक गूढ़ दार्शनिक रहस्य देखनेमें आता है। महादेवके मस्तकमें गंगाका, सोमधाराका रहस्य चिन्तनीय हैं। एक समय सोमयागमें मद भी पान किया जाता था। मद्यपायी मदोन्मत्त होकर मारामारी हत्याकाण्ड करते थे। तब मद्यपान निषेध कर दिया गया और उसकी जगह दूध या वटका रस पान करनेकी व्यवस्था की गयी। सर्वत्र देखनेमें आता है—एक तात्त्विक और दूसरा प्रतीकरूप रहस्य, अन्नाद और अन्नका, प्राण और रयिका आभास। सभी अग्नि-सोमात्मक Matter एवं Spirit है—मूलमें आदि दम्पतिका, अहं और इदंका, शिव और शक्तिका, राधा और कृष्णका युगलका लीला-रहस्य है।

हृदि-सोम [illegible] प्रतीक [illegible] [illegible] है। उसे

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

सब मिलकर खाते थे। प्रथमतः सब कुछ शुद्ध कर, भगवानके ग्रहणयोग्य कर भगवानको अर्पण कर, उनके ऊपरसे अपना स्वामित्व और कर्तृत्वबोध दूर कर, सबकुछ भगवानका है अनुभव कर, भगवत जीवोंकी सेवामें लगना होगा। जीवोंमें मैं भी एक हूँ, केवल इस भावसे यथाप्रयोजन उन चीजोंको, तत्त्वोंको अपने लिए व्यवहार करना होगा। यज्ञ द्वारा यजमानके आत्मा, बुद्धि, मन, प्राण, देह, प्रियजन एवं सब द्रव्य भगवानके हो जाते हैं। तब सबको भगवानका जानकर सबको समान भावसे स्नेह करना होगा और भगवानके प्रीतिवर्धक कार्यमें, उनके प्रियतम जीवोंकी सेवामें लगना होगा। अंगन्यास और करन्यासके बाद, आत्मनिवेदनके फलस्वरूप, सब भगवानका, हो जाता है— भगवानकी वस्तुएँ केवल भगदानकी सेवामें लगायी जाती हैं। स्वार्थके अथवा अपनी कामना-वासनाकी तृप्तिके लिए किसी चीजको लगानेका अधिकार नहीं रहता।

यज्ञमें अर्पित द्रव्योंमें यज्ञका अवशिष्ट द्रव्य सबको वितरण कर सबके साथ मिलकर स्वयं भोग करना होगा। समाज, देश और जगतमें सब भेदभाव दूर कर, जगतमें एकता-स्थापन एवं मैत्री-भाव आनयन करनेके लिए व्रती होना होगा। यज्ञ द्वारा सर्वत्र भगवद्दर्शन हो जानेके फलस्वरूप सबको अपने आत्माकी विभूतिरूपमें दर्शन करना ही वस्तुतः यज्ञका शेषभाग और सारतत्त्व अर्थात् अमृत अथवा इड़ा है। अब तो यह केवल कुछ भक्ष्य पदार्थ देवताको अर्पण करके सब मिलकर प्रसाद खानेके रूपमें रह गया है। हमें अपने देह, मन, प्राणको इस प्रकार तद्भावसे परिभावित करना होगा कि जिससे सब समझ सकें कि हम सब मिलकर एक हो गये, हमने अद्वैत तत्त्वका आस्वादन कर लिया। इड़ा और सोमको भक्षण, ईसाइयोंके देवताके भक्षणके, ईसाके रक्त और मांसके न्याय हैं। वेदपन्थी भी देवताको भक्षण कर, देह-मनको देवभावसे परिभावित होकर, देवमय हो जाते थे। साधक रामप्रसादका गान "ए बार काली तोमाय खाबो" इस प्रसंगमें तुलनीय है। भक्षणका अर्थ है आत्मस्थ करना, तद्भावसे परिभावित हो जाना, सायुज्य स्थापित करना, देवतामय हो जाना। इसीका नाम अमृत-भोजन है। इसी अमृत-भोजनमें ही यज्ञकी सार्थकता है।

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

हविः और सोमपानका मंत्र है—"अपाम सोमं अमृतां अभूम आजग्म ज्योति विदाम देवान्"। अर्थात् हम यज्ञावशिष्ट सोम-पान करके अमर हो गये, ज्योति लाभ करली, देवताओंको प्राप्त होगये, देवमय हो गये। प्रायः सब देशोंमें यज्ञकी एवं यज्ञावशेष-भक्षणकी प्रथा देखनेमें आती है। पारसियोंमें मित्र देवताकी पूजा-में रोटी और अंगूरका रस, ईसाईयोंमें रोटी और मद्य, हिन्दुओंके इड़ा और सोमके अर्पणमें एक सुन्दर सादृश्य लक्षित होता है। वैदिक कालमें भी हमारे देशमें यजमान और चार ऋत्विक मिलकर इड़ा और सोमकी जगह दुग्ध पान कर एकता-स्थापन करनेकी चेष्टा करते थे। यज्ञके पुरोडासको भंग करनेके साथ ईसाईयोंके रोटी काटने (Breaking of the bread) का सुन्दर सादृश्य है। यह ईसाके क्लेश स्वीकार करने और जीवन-दान करनेका प्रतीक हैं। वैदिक ऋषिगण जिस प्रकार पुरोडाश और सोम देवताका आह्वान करते थे, ईसाई भक्त भी रोटी काटनेके समय Consecration and Invocation का अनुष्ठान करते हैं।

हविःशेष-भक्षण एक प्रतीक (Symbol) है। यह बताता है कि समाज में हमें किस प्रकार चलना चाहिए, जीवनमें किस उद्देश्यके लिए व्रती होना चाहिए। ऊपर देवताओंमें एकत्वका अनुभव और नीचे जीवोंमें एकता स्थापित करना, अद्वैतानुभूति लाभ करना, हविःशेष-भक्षणका उद्देश्य है।

सारांश—हम सब भगवानकी सन्तान हैं, आपसमें भाई भाई हैं। यह तत्त्व भूलकर हमने अहंकारके वश होकर, अज्ञानताके प्रभावसे, भेदभाव एवं तज्जनित अशान्ति पैदा कर दी है। यज्ञ द्वारा पहले अपना चित्त शुद्ध किया जाता है। इसके बाद अपने सब तत्त्वों और यज्ञोंको भगवत-भावसे, भगवत-शक्ति-से, पूर्ण करलेनेके फलस्वरूप दिव्यदृष्टि लाभ होती है। तब सर्वत्र भगवद्दर्शन, सब जीवोंको भगवत-सन्तान, भगवत-विभूति रूपमें अनुभव करना स्वाभाविक हो जाता है। फलतः हम जीवसेवा द्वारा शिवको सेवा करने, भगवल्लीलामें सहयोग करनेके लिए दृढ़प्रतिज्ञ होजाते हैं। तब यज्ञका फल सबके साथ मिलकर इस प्रकार भोग किया जाता है कि जिससे सबके कल्याणके द्वारा हमारा अपना-अपना कल्याण स्वतः होजाता है। तब यज्ञके भावसे हम इस प्रकार परिभावित

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

हो जाते हैं कि हमारे भाव, वचन और कर्म द्वारा यज्ञकी महिमा घोषित होती है, यज्ञका रहस्य प्रकाशित होता है। यज्ञके द्वारा हम भगवानको प्राप्त कर, उनसे तन्मयता लाभ कर, उनका उद्देश्य सफल कर, उनकी लीलामें सहायक होजाते हैं। यज्ञका अवशिष्ट भोग कर हमारे सब पाप और बन्धन दूर होजाते हैं और ब्रह्मानन्द लाभ होता है।

हविःशेष—यज्ञका सारभाग, यज्ञका तत्त्व, यज्ञका अथवा पूजाका समस्त फल, उद्देश्य और तत्त्व।

भक्षण—आत्मस्थ करना, अन्तस्में धारण करलेना, अपने सब तत्त्वोंको तद्भावसे परिभावित करना, यज्ञपुरुषसे तन्मयता लाभ करना। सब देशोंमें देवताओंको खानेकी प्रथा है। साधक रामप्रसादका कालीको खाना, ईसाईयोंका ईसाको खाना प्रसिद्ध है।

अपने समस्त कर्म, ज्ञान और अनुभूतियोंके सार अंशको सब जीवोंकी सेवा में लगाकर—सब जीवोंमें मैं भी एक हूँ, इसलिए उसका अवशिष्ट अंश अपने जीवन-धारणमें भी लगाना, जीवन सार्थक करना, हविःशेष-भक्षण का गूढ़ार्थ है।

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

हवनके लिए ग्रावश्यक वस्तुएँ

(१) हवन वेदी या हवन कुण्ड—बालू, रूई।

(२) समिध (लकड़ी)—आम, बेल, गूलर, कठल, साल, देवदार, पलाश, चन्दन आदि।

(३) हवन सामग्री—२०० त्रिबेल पत्र, पंचशस्य (चावल, जौ, पीली सरसों, मूँग और तिल); किशमिश, छुआरा आदि सूखा मेवा, चीनी, शहद, चन्दनका बुरादा, गूगल, राल--इन चीजोंको मिलाकर हवन, सामग्री बना लेनी चाहिए; घी।

(४) अर्घ्यके लिए—फूल, चन्दन (लाल और सफेद), चावल, जल, दूब घास, तुलसीदल, धूप, दीप, स्रुक् एवं जलहरी आदि हवनके पात्र।

(५) आरतीके लिए—घीका दीपक, कपूर।

(६) यज्ञेश्वरके लिए—नैवेद्य, माला।

(७) पूर्णाहुतिके लिए—एक पान, एक साबुत सुपारी, एक साबुत फल—केला, नारियल, प्रभृति।

(८) अग्निनिर्वापणके लिए--दही।

(९) प्रसाद।

'स्वाहा' मंत्र उच्चारण करके, घीमें डुबो कर बेल-पत्रसे एवं हवन सामग्रीसे आहुति देनेका नियम है।

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

हवन विधि

(१) विष्णुस्मरणम्

हवनादि सब शुभ कार्योंमें पहले विष्णुस्मरण किया जाता है। यह चित्त-शुद्धिमें सहायक है। 'विष्णु' शब्दकी व्युत्पत्ति इस प्रकार है :— "वेवेष्टि व्याप्नोपि विश्वम् इति विष्णुः"। जो सब भूतोंमें विराजमान हैं, उन्हींका नाम विष्णु है। अथवा "विष्णाति वियुनक्ति भक्तान् मायापसारणेन संसारात् इति विष्णुः"। जो मायाका परदा हटाकर भक्तोंको संसारसे मुक्त कर देते हैं, वे ही विष्णु हैं। भगवान सर्वशक्तिमान, सर्वान्तिर्यामी, सर्वभूतान्तरात्मा सब जीवों के परमातमीय और सबके माता-पिता हैं। जीव भेष धारण किया हुआ शिव है। इसलिए जीवकी सेवाही शिवकी सेवा है, जीवको कष्ट देनेसे शिवको कष्ट होता है। वे किसीके प्रति अत्याचार-दुर्व्यवहार सहन नहीं करेंगे; सब हमारे माँ, बाप, भाई, बहिन हैं—यह भाव जाग्रत हो जानेपर किसीके प्रति द्वेष भाव नहीं रहता, चित्त अपने-आप ही शुद्ध हो जाता है। इसलिए विष्णु-स्मरण चित्तकी शुद्धिमें सहायक है।

ॐ तत्सत्। ॐ विष्णुः ॐ विष्णुः ॐ विष्णुः ॥१॥

इस मंत्रके साधनमें ॐ उच्चारण करके चित्तको मूलाधारसे, अकार-उकार-मकार भेद करते हुए, अर्धमात्रके निकट, सहस्रारमें ले जाना चाहिए। वहाँ भगवानके वाक्य-मनके अतीत निर्गुण-निष्क्रिय-निरंजन-ज्योतिर्मय स्वरूपकी उपलब्धि करनी चाहिए। इसके बाद चित्तको धीरे-धीरे नीचे उतारते हुए सब तत्वोंको भगवद्भावसे परिभावित और जीव-जगतकी "ईशावास्य" सत्-रूपमें उपलब्धि करनी चाहिए। तब अनुभवमें आयेगा कि यह विश्व भगवानका प्रकाश या विभूति है। तब सर्वत्र भगवान्का दर्शन, ध्यान और उपलब्धि सहज, सुन्दर और स्वाभाविक हो जायेंगे। तब सभी भगवान् है—सर्वत्र भगवान् हैं, यह उपलब्धि करते हुए ॐ विष्णुः ॐ विष्णुः ॐः विष्णुः उच्चारण करना चाहिए।

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

स्थूलमें विष्णु, सूक्ष्ममें विष्णु, कारणमें विष्णु—सर्वत्र विष्णुकी उपलब्धि करनी चाहिए।

ॐ तद् विष्णोः परमं पदं, सदा पश्यन्ति सूरयः।
दिवीव चक्षुराततम् ॥ २ ॥

सूरयः (ज्ञानीगण) तद् विष्णोः (उन सर्वव्यापक भगवान् विष्णुके परमं पदं (परम धामको) दिवि (आकाशमें) आततं चक्षुः इव (विस्तृत चक्षुके समान) सदा पश्यन्ति (सर्वदा देख रहे हैं)। श्लोक भगवान्के अस्तित्व और सर्वव्यापकत्वका प्रमाण हैं। भगवान् वाक्य-मनके अतीत हैं। प्रमाणादि मनोधर्म द्वारा मनोतीतकी उपलब्धि नहीं हो सकती। वे विशुद्ध चित्त-में अनुभवगम्य हैं। जितेन्द्रिय, शुद्ध, शान्त, सत्यवादी और जीवहितेरत ऋषियों-के वचन एवं अनुभूति हेतुवाद द्वारा बाधित नहीं होते। जब वे कहते हैं कि भगवान हैं, हम उनको देख रहे हैं, तब फिर उनके वचनमें सन्देह करनेका कोई कारण नहीं। उनकी बात पर विश्वास करके, उनके प्रदर्शित पथपर चलनेसे भगवद्-दर्शन हो सकता है। उन्होंने भगवान्को विश्वरूपमें, सर्वव्यापी, सर्वा-न्तर्यामी, सर्वभूतान्तरात्मरूपमें प्रत्यक्ष कर लिया था।

ॐ अपवित्रः पवित्रो वा, सर्वावस्थां गतोऽपि वा।
यः स्मरेत् पुण्डरीकाक्षं, स बाह्याभ्यन्तरः शुचिः ॥३॥

यः (जो) अपवित्रः पवित्रः वा (पवित्र या अपवित्र) सर्वावस्थां गतः अपि वा (किसी भी अवस्थामें रहते हुए) पुण्डरीकाक्षं (उन कमललोचन, शरीरके सब तत्त्वोंमें अवस्थित श्रीभगवान्को) स्मरेत् (स्मरण करता है) स बाह्याभ्यन्तरः शुचिः (वह भीतर और बाहर पवित्र हो जाता है)। सर्वत्र विष्णु भगवानके स्मरण और उपलब्धिके फलस्वरूप साधकका आन्तर और बाह्य शुद्ध हुए बिना नहीं रह सकता।

ॐ वाङ् मे मनसि प्रतिष्ठिता, मनो मे वाचि प्रतिष्ठितम्।
ॐ आविरावीर्म्म एधि ॥४॥ (३ बार)

मे वाक् (मेरी वाणी) मनसि प्रतिष्ठिता (मनमें प्रतिष्ठित हो जाय) मे

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

मनः (मेरा मन) वाचि प्रतिष्ठितम् (वाणीमें प्रतिष्ठित हो जाय) आविः आवीः (हे स्वप्रकाश ब्रह्मज्योति) मे एधि (मेरे भीतर अधिष्ठित हों) ।

ऋषिग्रोंको कर्तृत्वाभिमान और प्रतिष्ठा-मोह नहीं था । वे भगवान्के हाथके एक-एक यन्त्र थे । भगवदिच्छाको पूर्ण करनेमें ही वे जीवनकी चरम सार्थकता मानते थे । इसलिए सब शुभ कर्मोंको आरम्भ करनेसे पहले भगवान्से प्रार्थना करते थे—'हे भगवान्, तुम हमारे भीतरसे प्रकाशित होकर हमारे मनको सम्पूर्णतः अपने वशमें कर लो, हमारी वाणीको मनके साथ युक्त कर दो; हमारे मुखसे तुम बोलो; हमारे हाथसे काम करो । तब फिर हमारा स्वार्थ, कर्तृत्वाभिमान, प्रतिष्ठा-मोह तुम्हारी इच्छा अथवा तुम्हारे कार्यको विकृत नहीं कर सकेंगे ।'

(२) सूर्याघ्य

जल, दूध, चावल, हाथमें लो—

ॐ नमो विवस्वते ब्रह्मन् भास्वते विष्णुतेजसे
जगत्सवित्रे शुचये सवित्रे कर्मदायिने
इदमर्घ्यं ॐ नमः सूर्याय नमः ॥ ५ ॥

—सूर्यदेवका ध्यान करके जलहरीमें डाल दो ।

'ब्रह्मन् (हे ब्रह्मन्) विवस्वते (सूर्यको) भास्वते (दीप्तिमानको) विष्णुतेजसे (विष्णु-तेजके आधारको) जगत्सवित्रे (विश्वके स्रष्टाको) शुचये (शुद्धको) सवित्रे (सबके प्रसविताको) कर्मदायिने (कर्मकी प्रेरणा देनेवाले तुमको) नमः (प्रणाम करता हूं) ।

'हे ब्रह्मस्वरूप दीप्तिमान सूर्यदेव तुम चराचर विश्वकी सृष्टि कर उसमें व्याप्त हो । तुम शुद्ध सत्व हो, तुम्हारे प्रभावसे विश्ववासी कर्मकी प्रेरणा लाभ करते हैं । अतएव हे विश्वपालक दिवाकर ! तुम अपनी तेजोमय असंख्य रश्मियोंसे मेरा चित्त शुद्ध करो । मैं भक्तिमिश्रित अर्घ्य अर्पण कर कृत-कृतार्थ हो जाऊँ ।' सूर्यदेव सन्निहित होकर हमारी प्रार्थना सुन रहे हैं एवं अर्घ्य ग्रहण कर रहे हैं—इस प्रकार चिन्तन करना चाहिए । 'मेरे मुखसे तुम बोलो, मेरे हाथसे तुम काम करो ।'

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

(३) कृतज्ञता प्रकाश

ॐ गुरुभ्यो नमः ॐ बान्धवेभ्यो नमः
ॐ जीवेभ्यो नमः, ॐ देवेभ्यो नमः,
ॐ विश्वरूपाय परमात्मने नमः ॥ ६ ॥

ऋषिगण अकृतज्ञताको बहुत बड़ा अपराध मानते थे। भगवान् मनु भी कह गये हैं—"कृतघ्ने नास्ति निष्कृति"—कृतघ्नताका कोई प्रायश्चित्त नहीं। ऋषियोंके नित्य कर्ममें सबसे पहला काम था—उपकारीके उपकारका स्मरण करके भक्तिपूर्वक उनका नाम उच्चारण करना, सब काम आरम्भ करनेसे पहले उनसे कृपा प्रार्थना करना।

ॐ गुरुभ्यो नमः—'गु' शब्दका अर्थ है ज्ञान। जो ज्ञानका आविष्कार अथवा प्रचार कर गये हैं, वे गुरु वर्गमें हैं। उसको प्रणाम कर उनके ज्ञानकी उपलब्धि करनेकी चेष्टा की जाती है।

ॐ बान्धवेभ्यो नमः—इसके बाद हम अपने सब बन्धु-बान्धवोंके कृतज्ञ हैं। उनको प्रणाम कर उनका आशीर्वाद ग्रहण करना अवश्य करणीय है।

ॐ जीवेभ्यो नमः—इसके बाद हम सब जीवोंसे कितने रूपोंमें कितना उपकार प्राप्त करते हैं—वह सब स्मरण कर उनको प्रणाम करनेकी व्यवस्था है।

ॐ देवेभ्यो नमः—इसके बाद हम भगवानकी विभूतिरूप देवताओंके, अपने सब तत्वोंमें अधिष्ठत चैतन्यके, कितने प्रकारसे श्रेणी हैं—यह स्मरण कर, उनको प्रणाम कर, उनके आशीर्वादकी प्रार्थना की जाती है।

ॐ विश्वरूपाय परमात्मने नमः—सर्वोपरि विश्वरूप परमात्मा ही नाना प्रकारसे हमारा कल्याण कर रहे हैं—यह उपलब्धि कर अति विनीत भावसे उनको प्रणाम करना चाहिए और चेष्टा करनी चाहिए कि उनकी इच्छा हमारे भीतरसे पूर्ण सफलता लाभ कर सके।

(४) स्वस्ति वाचन

स्वस्तिवाचनका अर्थ है—समर्थ ब्राह्मणोंसे मंगलवाणी उच्चारण कराना। यजमान कहता है—'आपलोग आशीर्वाद करें कि यह कार्य मंगलपूर्वक सम्पन्न

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

हो'। ब्राह्मणगण कहेंगे—'स्वस्ति'। चूंकि यजमान कहलवा लेता है, इसलिए वाचन है। स्वस्तिवाचन आर्य साधनाका प्रधान अंग था। देवता, ऋषि, मुनि, प्रत्येक जीव एवं पापी-तापी तकका ऋण स्वीकार करके, उनके कल्याणके लिए भगवानसे प्रार्थना करते हुए, उनका आशीर्वाद शिरोधार्य करके, सब शुभ अनुष्ठान आरम्भ करनेका नियम था। एक सामान्य जीवके भी असंतुष्ट रहते हुए भगवद्धाममें प्रवेश असम्भव है। इसलिए यजमान सबसे प्रार्थना करता है कि आप लोग सब मिलकर आशीर्वाद करें कि यह शुभ अनुष्ठान मंगलकारी हो—'अयमारम्भः शुभाय भवतु'।

ॐ स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः,
स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः।
स्वस्ति न स्तार्क्ष्योऽरिष्टनेमिः,
स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु ॥ ७ ॥

वृद्धश्रवाः (जो सतत ब्रह्मतत्त्व श्रवण करते हैं अथवा जिनके पास हविरूप अन्न प्रचुर मात्रामें है) इन्द्रः (वे देवराज इन्द्र) नः स्वस्ति (हमारा मंगल करें) विश्ववेदाः (सर्वज्ञानाधार) पूषा (जगत्पोषक देवता) नः स्वस्ति (हमारा मंगल करें) अरिष्टनेमि (अशुभके नाशक, अहिंसाके पालक अथवा जिनका स्मरण करनेसे जीवन-रथकी गति अबाध हो जाती है, वे विष्णुके वाहन) तार्क्ष्यः (गरुड़) नः स्वस्ति (हमारा कल्याण करें) बृहस्पतिः नः स्वस्ति दधातु (देवगुरु बृहस्पति हमारा मंगल विधान करें)।

चावल, दूब, फूल लो—

ॐ ब्रह्मा विष्णुश्च रुद्रश्च देवा इन्द्रादयस्तथा।
भूतानि यानि वै लोके स्वस्ति दिशन्तु तानि नः ॥ ८ ॥

ब्रह्मा विष्णुश्च रुद्रश्च (ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र) तथा इन्द्रादयः देवाः (तथा इन्द्रादि देवतागण) लोके (इस जगतमें) यानि वै भूतानि तानि (और जितने भी प्राणी हैं, वे सब) नः (हमारा) स्वस्ति (मंगल, कल्याण) दिशन्तु (करें)।

ॐ स्वस्ति ॐ स्वस्ति ॐ स्वस्ति ॥ ९ ॥

—जलहरीमें डाल दो।

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

जल लो—

ॐ आब्रह्मभुवनाल्लोका: देवर्षि-पितृ-मानवाः ।
तृप्यन्तु पितरः सर्वे मातृ-मातामहादयः ॥
अतीतकुल-कोटीनां सप्तद्वीप-निवासिनाम्
मया दत्तेन तोयेन तृप्यन्तु भुवनत्रयम् ॥ १० ॥

—जलहरीमें डाल दो ।

आब्रह्मभुवनात् (ब्रह्मलोक तकके) लोकाः (समस्त जीव) देवर्षि-पितृ-मानवाः (देवर्षिगण, पितृगण और मनुष्य) सर्वे पितरः (हमारे सब पितर), मातृ-मातामहादयः (मातृगण और मातामह इत्यादि) तृप्यन्तु (सब तृप्त हो जाँय) । अतीत-कुल-कोटीनां (हमारे अतीत कोटि कुलके) सप्तद्वीपनिवासिनां (और सातों द्वीपके निवासी) भुवनत्रयम् (तीनों भुवन) मया दत्तेन तोयेन तृप्यन्तु (मेरी दी हुई जलांजलिसे तृप्त हो जाँय) ।

फिर जल लो—

ॐ आब्रह्मस्तम्बपर्यन्तं जगत् तृप्यतु ॥ ११ ॥

(ब्रह्मासे तृणतक समुदय जगत तृप्त हो जाय) ।

—जलहरीमें डाल दो ।

ॐ अयमारम्भः शुभाय भवतु ।
ॐ तिथि-नक्षत्र वारादयः शुभाय भवन्तु ॥ १२ ॥

अयमारम्भः (यह शुभ अनुष्ठान) शुभाय भवतु (मंगल करे) तिथि-नक्षत्रवारादयः (तिथि-नक्षत्र-दिवसके सब अधिपति देवता) शुभाय भवन्तु (मंगल विधान करें) ।

ॐ कर्तव्येऽस्मिन् हवन–कर्मणि
ॐ ऋद्धिं भवन्तोऽधिब्रुवन्तु, शिवं चास्तु,
ॐ ऋद्ध्यतां ॐ ऋद्ध्यतां ॐ ऋद्ध्यतां ॥ १३ ॥

अस्मिन् कर्तव्ये हवन-कर्मणि (इस अनुष्ठेय हवन-कर्मसे) भवन्तः (सब उपस्थित गण) ऋद्धिम् च शिवं (पार्थिव-अपार्थिव सम्पद एवं भगवत्प्राप्तिरूप सिद्धि) अधिब्रुवन्तु (लाभ करें), यह आशीर्वाद दीजिये ।

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

[सबने मिलकर कहा] ॐ ऋद्धयतां (तुम्हारा आधिभौतिक, आधिदैविक एवं आध्यात्पिक कल्याण हो)।

(५) भगवत्-स्वरूप चिन्तन

यहांके श्लोकोंमें भगवानका स्वरूप, उनके तटस्थ लक्षण और भगवानके साथ जीवका सम्बन्ध तथा उनकी उपलब्धिके अधिष्ठान बताये गये हैं। भगवान ही हमारे यथा-सर्वस्व हैं। वेही हमारी समस्त सम्पद्, ऐश्वर्य, ज्ञान और आनन्दके मूलाधार हैं। वे सर्वत्र विराजित हैं। हमारे दुःख-कष्ट दूर करके वे हमें अपने आनन्दधाममें ले जानेके लिए व्यस्त हैं—यह उपलब्धि करनी होगी।

स्वरूप-लक्षण

ॐ सत्यम् ज्ञानम् अनन्तम् ब्रह्म
ॐ आनन्दरूपम् अमृतम् यद्विभाति।
ॐ शान्तम् शिवम् अद्वैतम्
तस्मै देवाय हविषा विधेम ॥१४॥

ॐ ब्रह्म (वह प्रसिद्ध ब्रह्मतत्त्व) सत्यं ज्ञानं अनन्तं (सत्यस्वरूप, ज्ञानस्वरूप एवं अपरिच्छिन्न स्वभाव है)। यत् विभाति आनन्दरूपम् अमृतं (जो सर्वत्र स्वयंप्रकाश रूपमें विराजमान हैं, वे आनन्दस्वरूप एवं अविनाशी हैं)। शातं शिवं अद्वैतं (वे शान्त, कल्याणमय, अद्वैततत्त्व हैं)। तस्मै देवाय हविषा विधेम (उन देवताकी हम हवि-आहुति द्वारा परिचर्या करेंगे)।

तटस्थ लक्षण

ॐ यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते
येन जातानि जीवन्ति।
यत् प्रयन्त्यभिसंविशन्ति
तस्मै देवाय हविषा विधेम ॥१५॥

यतः (जिनसे) इमानि भूतानि जायन्ते (यह समस्त जीव-जगत उत्पन्न हुआ है) येन जातानि जीवन्ति (जिनकी शक्तिसे सब सृष्ट पदार्थ विधृत एवं परिपुष्ट हैं) यत्

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

प्रयन्ति अभिसंविशन्ति (और जिनमें प्रलयकालमें सब सृष्ट पदार्थ विलय होते हैं, परम विश्राम लाभ करते हैं) तस्मै देवाय हविषा विधेय (उन देवताकी हम हवि-आहुति द्वारा परिचर्या करेंगे।

भगवानसे जीवका सम्बन्ध

ॐ श्रोत्रस्य श्रोत्रम् मनसो मनो यद् वाचो ह वाचम्।
स उ प्राणस्य प्राणः चक्षुषश्चक्षुः
तस्मै देवाय हविषा विधेम ॥१६॥

यत् श्रोत्रस्य श्रोत्रं (जो हमारे कानोंकी श्रवण-शक्ति हैं) मनसः मनः (मनकी मनन शक्ति हैं (वाचः ह वाचं (वागिन्द्रियकी भी वाक्-शक्ति हैं) स उ प्राणस्य प्राणः (वे ही प्राणकी स्पन्दन-शक्ति हैं) चक्षुषः चक्षु (नेत्रोंकी दर्शन शक्ति हैं) तस्मै देवाय हविषा विधेम।

भगवानका अधिष्ठान

ॐ यो देवोऽग्नौ योऽप्सु यो विश्वं भुवनमाविवेश।
य ओषधिषु यो वनस्पतिषु तस्मै देवाय हविषा विधेम ॥१७॥

यः देवः (जो देवता) अग्नौ (अग्निमें) यः अप्सु (जो जलमें) यः विश्वं भुवनम् (जो समस्त विश्वमें) यः ओषधिषु (जो औषधियोंमें) यः वनस्पतिषु (जो वनस्पतियोंमें) आविवेश (अन्तर्निहित शक्ति रूपमें विराजमान हैं) तस्मै देवाय हविषा विधेम।

यहाँ विशेष रूपसे अनुभव करना चाहिए कि भगवानकी अवस्थिति और कृपाके बिना हमारे कान सुन नहीं सकते, आँख देख नहीं सकती, हाथ काम नहीं कर सकते, मन चिन्तन नहीं कर सकता, हम जीवित ही नहीं रह सकते। इस रहस्यका चिन्तन कर जिससे भगवान हमारे भीतर आविर्भूत होकर, हमारे साथ युक्त रहकर, हमारे माध्यमसे यह हवन-कार्य सुसम्पन्न करा लें—यह प्रार्थना करनी चाहिए।

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

(६) यज्ञेश्वरकी पूजा

यहाँ यह उपलब्धि करनी चाहिए कि भगवान स्वयं यज्ञ, यज्ञाङ्ग, यज्ञके उपकरण, यजमान, आदि रूपमें परिणत या विवर्तित होकर यज्ञका कार्य कर रहे हैं। प्रार्थना करनी चाहिए—"हे यज्ञेश्वर विष्णु भगवान ! तुम स्वयं यज्ञ-क्षेत्रमें हमारे सबके भीतर, सब तत्त्वों, सब द्रव्यों, तथा सम्पूर्ण क्रियाकाण्डमें आविर्भूत होकर अपना यज्ञ–कार्य सुसम्पन्न करो। हमारे सब तत्त्वोंको अवलम्बन करके हमें यंत्र रूपसे चलाओ"। यहाँ अनुभव करना चाहिए कि सब देवता, ऋषि, सिद्ध, महात्मागण यज्ञेश्वरका यज्ञ देखनेके लिए आये हैं। इस कार्यमें हमें अपना किसी प्रकारका कर्तृत्वाभिमान अथवा प्रतिष्ठा-मोह नहीं रखना चाहिए।

ध्यान

यज्ञो यज्ञपतिर्यज्ञी यज्ञाङ्गं यज्ञसाधनम्।
यज्ञभृद् यज्ञभुक् विष्णुस्त्वमेव यज्ञपावनः ॥१८॥

तुम ही इस यज्ञके यज्ञपति हो; तुम्हारे उद्देश्यसे ही यह यज्ञ हो रहा है। तुम ही इस यज्ञके कर्त्ता, सर्व-अंग, उपकरणादि हो। तुम ही यजमान, ऋत्विक, आदि रूपमें उपस्थित हो। तुम इन सबको पवित्र करके अपने यज्ञके उपयुक्त बना लो। तुम ही यज्ञके फलके वाहन एवं भोक्ता हो। हे विष्णु भगवान, तुम अपने यज्ञको सुचारु रूपसे करा लो। यहाँ 'ब्रह्मार्पणं ब्रह्महविः' भाव (गीता ४।२४) चिन्तनीय हैं।

पाद्य अर्पण—

यहाँ अनुभव करना चाहिए कि भगवान किस प्रकार जीवकी पूजा, जीवकी सेवा कर रहे हैं—हमारी पूजा उनकी पूजाकी नकल है। देखो गीता ३।२०-२४। यहाँ सम्प्रदानका अर्थ है कि वे ही सब कर रहे हैं, हम केवल निमित्तमात्र हैं। ध्यान करो कि यज्ञेश्वर जीव-जगतके भीतर स्थित हुए जल तत्त्वको शुद्ध करके और उस शोधित जलसे विष्णुके चरण–कमल धोकर सब तत्त्वोंको आप्यायित कर रहे हैं।

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

जल लो—

ॐ एतत् पाद्यं ॐ यज्ञेश्वाय श्रीविष्णवे नमः ॥१९॥

—जलहरीमें डाल दो।

अत्र पाद्य-सम्पर्पणेन चेतसि यद् यत् मालिन्यं सञ्जातं, र तत् सवं शोधयित्वा सहस्रार-विगलित-सुधां यज्ञेश्वराय पाद्यरूपेणाहं सम्प्रददे ॥२०॥

अत्र पाद्यसमर्पणेन (इस पाद्य—समर्पणके द्वारा) चेतसि यत् मालिन्यं सञ्जातं (मेरे चित्तमें जितनी भी मलिनता है) तत् सवं शोधयित्वा (वह सब शुद्ध होकर) सहस्रार विगलती सुधां (सहस्रारसे विगलित सुधाको) अहं श्रीविष्णवे पाद्यरूपेण सम्प्रददे (मैं यज्ञेश्वर श्रीविष्णुको पाद्यरूपमें निवेदन करता हूँ)। अर्थात् साधक अपने चित्तको शुद्ध करके सहस्रार-विगलित सुधा-से यज्ञपति श्रीविष्णुके चरण—कमल धो रहे हैं—इस प्रकार चिन्तन करना चाहिए।

यस्य पादाम्बुजे दिव्ये निर्मले ब्रह्मरूपिणी।
पुनाति तद्भवा गंगा जगत् पाद्यं ददाम्यहम् ॥२१॥

यस्य दिव्ये निर्मले पादाम्बुजे (जिनके दिव्य निर्मल चरण—कमलमें) ब्रह्मरूपिणी गंगा [स्थिता] (ब्रह्मस्वरूपा गंगा अवस्थिता हैं) तद्भवा जगत पुनाति (और उनसे उत्पन्न वही गंगा जगतको पवित्र करती हैं) [तस्मै] (उन्हीं चरण-कमलोंमें) अहं पाद्यं ददामि (मैं पाद्य अर्पण करता हूँ)।

मैंने भक्ति जलसे उनके चरण—कमलोंको पखारा। अब उस प्रसादी जलसे अपने सब तत्त्व शुद्ध और आप्यायित करता हूँ। अर्थात् देवताके शुद्ध स्वरूपके ध्यान द्वारा आज मेरे तत्त्व शुद्ध हो गये।

अर्घ्य दान

चावल लो—

ॐ **एषोऽर्घ्यः** ॐ **यज्ञेश्वराय श्रीविष्णवे नमः ॥२२॥**

——जलहरीमें डाल दो।

अत्र अर्घ्यसम्प्रदानेन चेतसि
यानि यानि सौन्दर्याणि सन्ति,
तानि सर्वाणि यज्ञेश्वराय अहं सम्प्रददे ॥२३॥

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

(यहाँ यह उपलब्धि करनी चाहिए कि भगवान किस प्रकार जीव जगतको सुसज्जित कर रहे हैं। हमारा सब सौन्दर्य-माधुर्य वस्तुतः उन्हींका दान, उन्हींका प्रकाश है। हम भी उन्हींके दिये हुए पुष्पादि द्वारा उनको सुसज्जित करनेकी चेष्टा करते हैं)।

यः प्राणबिन्दुः मदीयो महाप्राणाम्बुधौ त्वयि।
सोऽयं सम्मिलितो देव प्राणार्घ्यः प्रतिगृह्यताम् ॥२४॥

मदीयः यः प्राणबिन्दुः (मेरा यह क्षुद्र प्राण बिन्दु) त्वयि महाप्राणाम्बुधौ सम्मिलितः (तुम्हारे महाप्राणसागरमें ओत-प्रोत रूपसे मिला हुआ है) देव (हे देव) सः अयं प्राणार्घ्यः प्रतिगृह्यताम् (मेरे इस प्राणरूपी अर्घको तुम ग्रहण करो। अर्थात् तुम्हारा ही दिया हुआ मेरा यह जीवात्मरूप प्राण बिन्दु मैं तुमको अर्घ्यरूपमें निवेदन करता हूँ। मैं अब तक अहंकारके कारण अपने मन-प्राणादिको तुम्हारे सर्वव्यापी प्राणादिसे पृथक् मानता था, किन्तु आज यह अनुभवमें आया कि यह तो तुम्हारा अच्छेद्य अंश है। अब मैं अपने व्यष्टि प्राणादिको तुम्हारे समष्टि प्राणादिमें आहुति देकर सर्वतोभावेन तुम्हारा हो जानेमें समर्थ हूँ। इसको ग्रहण कर मुझे कृतार्थ करो।

ॐ ब्रह्मादयः पादपद्मं चिन्तयन्ति दिने दिने।
अनर्घ्याय जगद्धात्रे अर्घ्यमेतद् ददाम्यहम् ॥२५॥

[यत्) (जिन) पाद पद्मं (चरण-कमलोंका) दिने दिने (प्रतिदिन) ब्रह्मादयः (ब्रह्मादि देवता) चिन्तयन्ति (ध्यान करते हैं) [तस्मै] उन अनर्घ्याय जगद्धात्रे (जगतपालक-चरणों में) अहं एतत अर्घ्यं ददामि (मैं यह अर्घ्य अर्पण करता हूँ)।

अर्थात् मेरा यह क्षुद्र प्राण तुम्हारा ही दान है, तुम्हारे महा-प्राण सागरमें मिलनोन्मुख है। अब जिससे मुझे अहं-बुद्धिसे उत्पन्न त्रिताप-ज्वाला फिर न भोग करनी पड़े, तुम अपने इस मिलनकामी सन्तानका यह प्राणार्घ्य ग्रहण कर कृतार्थ करो—

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

गन्ध-पुष्प दान—

फूल चन्दन लो—

ॐ एते गन्धपुष्पे ॐ यज्ञेश्वराय श्रीविष्णवे नमः ॥२६॥

—जलहरीमें डाल दो।

अत्र गन्धपुष्पसम्प्रदानेन चेतसि
ये ये भगवद्भावाः सन्ति,
तान् सर्वान् यज्ञपतये श्रीविष्णवे अहं सम्प्रददे ॥२७॥

(ये गन्ध जो मेरे चित्तके ज्ञान, प्रेमादि सद्भावोंके प्रतीक हैं, तुमको निवेदन करता हूँ। ये सब सद्भाव वास्तवमें मेरे नहीं हैं, ये तुम्हारे ही कृपादान हैं—यह तत्त्व उपलब्धि कर तुम्हारा धन तुम्हींको देकर वृथा कर्तृत्वाभिमानसे मुक्त होना चाहता हूँ)।

धूपदान

फूल चावल लो—

ॐ एष धूपः ॐ यज्ञेश्वराय श्रीविष्णवे नमः ॥२८॥

—धूपदानीमें डाल दो।

अत्र धूपदानेन चेतसि
तपस्या-लब्धा ये ये सद्गुणाः सन्ति
तान् सर्वान् यज्ञेश्वराय श्रीविष्णवे अहं सम्प्रददे ॥२९॥
ॐ वनस्पतिरसो दिव्यो गन्धाढ्यः सुमनोहरः।
आघ्रेय सर्वदेवानां धूपोऽयं प्रतिगृह्यताम् ॥३०॥

दिव्यः गन्धाढ्यः वनस्पतिरसः (दिव्य सुगन्धसे भरपूर वनस्पतिरस) सर्वदेवानां आघ्रेयः (सब देवताओंके सूँघनेकी प्रियवस्तु) अयं सुमनोहरः धूपः प्रतिगृह्यताम् (यह मनोहर धूप तुमको ग्रहण हो)।

धूप आगमें जलनेसे सुगन्ध वितरण करती है। इसी प्रकार हमारे भीतरके अनेक सद्गुण तपस्याके द्वारा आवरण दूर हो जानेपर प्रकाशित हो जाते हैं। ये तपस्यालब्ध सद्गुण भी उन्हींके प्रकाश हैं—यहाँ यह तत्व आस्वाद करना चाहिए।

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

दीपदान—

फूल चावल लो—

ॐ एष दीपः ॐ यज्ञेश्वराय श्रीविष्णवे नमः ॥३१॥

—दीपको अर्पण करो ।

अत्र दीपदानेन परोक्षापरोक्षादि सर्वज्ञानं।
यज्ञेश्वराय श्रीविष्णवे अहं सम्प्रददे ॥३२॥

अत्र दीपदानेन (इस ज्योतिरूप दीपदान द्वारा) परोक्ष-अपरोक्ष—आदि सर्वज्ञानं (शास्त्र-लब्ध परोक्ष एवं स्वानुभूत अपरोक्ष, सब प्रकारका ज्ञान) अहं यज्ञेश्वराय श्रीविष्णवे सम्प्रददे (मैं यज्ञेश्वर श्रीविष्णुको समर्पण करता हूँ) ।

अर्थात् मेरे भीतर परोक्ष-अपरोक्ष जो भी ज्ञानका स्फुरण हुआ है, यह तुम्हारा ही कृपादान है, यह सब तुम्हींको समर्पित है ।

पाद्यअर्पणसे धूपदान तककी क्रिया द्वारा, योगाभ्यासकी क्रियाविशेषके फल-स्वरूप, कर्तृत्वाभिमान दूर हो जाता है और आज्ञाचक्रमें शिवलिङ्ग रूपी ज्ञान-दीप जल उठता है । तब समझमें आता है :—

ॐ अग्निर्ज्योती रविज्योतिः चन्द्रज्योतिस्तथैव च।
ज्योतिषामुत्तमं देव ज्योतिर्मे प्रतिगृह्यताम् ॥३३॥

अग्निज्योतिः (अग्निकी ज्योति) रविज्योतिः (सूर्यका प्रकाश) चन्द्रज्योतिः तथा एव च (एवं चन्द्रमाका आलोक) देव (हे देव) ज्योतिषाम् उत्तमं मे ज्योतिः (सब ज्योतियोंमें श्रेष्ठ मेरे द्वारा प्रदत्त दीपकी ज्योति) प्रतिगृह्यताम् (तुम्हारे ग्रहण योग्य हो) ।

अर्थात् जब ज्ञानका आलोक उदय होता है, तब उसके आगे सूर्य-चन्द्रादिकी ज्योति निस्तेज मालूम होती है । तभी समझमें आता है कि ब्रह्मज्योतिसे ही सूर्य-चन्द्र-विद्युत आदि आलोकित हैं ।

यस्मिन् प्रज्वलिते न तिष्ठति तमः
बाह्यं न चाभ्यन्तरम् ।
सोऽयं ज्ञानमयः प्रकाशपरमो
दीपः समुज्ज्वाल्यताम् ॥३४॥

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

यस्मिन् प्रज्वलिते (जिस ज्ञानाग्निके प्रदीप्त हो जानेपर) न बाह्यं न च आभ्यन्तरं तमः तिष्ठति (बाहर अथवा भीतर किसी प्रकारका अन्धकार नहीं रहता) ज्ञानमयः प्रकाशपरमः (ज्ञानमय परम प्रकाशस्वरूप) सः अयं दीपः समुज्ज्वाल्यताम् (वही दीपशिखा मेरे भीतर प्रज्वलित करो)। अर्थात् यज्ञपति विष्णुकी कृपासे साधकके हृदयमें अध्यात्म ज्ञानका आलोक उदय होनेपर अनात्मदर्शन-जनित मलिनता तिरोहित हो जाती है। क्रमशः साधक ज्ञानदृष्टि, दिव्यचक्षु लाभ करता है— यही यथार्थ दीप-निवेदन है।

हे भगवान् ! तुम दया करके मेरे भीतर ज्ञान-दीपको प्रज्वलित कर दो और यह ज्ञान भी तुम्हारा ही प्रकाश है, यह तत्त्व मुझे समझा दो, ताकि मेरा अहंकार सिर न उठाये।

नैवेद्य निवेदन—

फूल चन्दन लो—

ॐ एतत् नैवेद्यं ॐयज्ञेश्वराय श्रीविष्णवे नमः ॥३५॥

—नैवेद्यमें डाल दो।

अत्र नैवेद्य सम्प्रदानेन मम नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्तात्मानं
ॐ यज्ञेश्वराय श्रीविष्णवे अहं सम्प्रददे ॥३६॥

यहाँ नैवेद्यका अर्थ है भुक्त अन्नादिकी चरम परिणति अर्थात् सुधा—साधन भजनसे उत्पन्न नित्य शुद्ध-बुद्ध आत्मतत्त्व।

उपचार समर्पण—

मय्यार्प्यते त्वच्चरणेऽयमात्मा
प्रतीच्छ हे स्वस्य धनं स्वयं त्वम्।
किंचिन्निजस्वं न हि विद्यते मे
यद् दीयते त्वच्चरणे मुकुन्द ॥३७॥

मया (मेरे द्वारा) अयम् आत्मा (यह आत्मा) त्वच्चरणे अर्प्यते (तुम्हारे चरणोंमें अर्पण हो रहा है)। हे (सर्वात्मन्) त्वं स्वयं स्वस्य धनं प्रतीच्छ (तुम स्वयं अपने धनको ग्रहण करो) मुकुन्द (हे मुक्तिदाता) त्वच्चरणे यद्

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

दीयते (तुम्हारे चरणोंमें जो कुछ अर्पण किया है) मे निजस्वं (इसमें मेरा अपना) किंचित न विद्यते हि (कुछ भी नहीं है) ।

अर्थात् अपने नित्य-शुद्ध-बुद्ध आत्माको भगवानको प्रदत्त वस्तु उपलब्धि करके साधक उनका धन उन्हींको देकर आत्मनिवेदन-तत्व सार्थक करता है ।

गायत्री जप—

यज्ञेश्वरके ध्यानके फलस्वरूप साधक अपने आराध्य परमेश्वरसे तन्मयता लाभ कर अपना पृथक् अस्तित्व भूल जाता है—एक अनिर्वचनीय अखण्ड अद्वय तत्त्व आस्वाद करता हैं। तव समस्त 'इदं' तत्त्व ध्येय 'अहं तत्त्व'की परिणति अथवा विवर्तन रूपमें उपलब्व हो जानेके फलस्वरूप साधक एक परम अद्वैत तत्त्वमें निमज्जित हो जाता है। इसके बाद एक लीलार्थं कल्पित द्वैत भाव साधकके समक्ष स्फुरित होने लगता हैं। यह 'लीलार्थं कल्पितं द्वैत अद्वैतात् अपि सुन्दरम्' है। इस द्वैत, अद्वैत एवं द्वैताद्वैत रूप लीलाके पुनः पुनः चिन्तन और उपलब्धि द्वारा जप-कार्य साधित होता है ।

ॐ परमेश्वराय विद्महे, यज्ञेश्वराय धीमहि,
तन्नो यज्ञः प्रचोदयात् ॐ ॥ ३८ ॥ (तीन बार)

ॐ परमेश्वराय विद्महे (हम यज्ञपति परमेश्वरके स्वरूपको जानकर उनके चिद्रूपमें विभोर रहें) यज्ञेश्वराय धीमहि (यज्ञपुरुषके ध्यानमें समाहित हो जाँय)। यज्ञः (परमेश्वरका यज्ञस्वरूप यज्ञ) नः [बुद्धि वृत्तिः] (हमारी समस्त बुद्धि-वृत्तियोंको) प्रचोदयात् (धर्म-अर्थ-आदि चतुवर्गमें प्रेरण करे) ।

गायत्री जपसे हमारे भीतर-बाहरके सब तत्त्व परमेश्वरकी भावनाके फल-स्वरूप उनसे तन्मयता लाभ कर उनकी लीलामें सहायक हो जाते हैं। तब समझमें आता है कि इस जीव-जगत रूपी यन्त्रको वे ही यन्त्री बनकर चला रहे हैं ।

प्रणाम—

ॐ कृष्णाय वासुदेवाय हरये परमात्मने ।
प्रणतक्लेशनाशाय गोविन्दाय नमो नमः ॥ ३९ ॥

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

कृष्णाय (रूप-गुणादि द्वारा सर्वचित्ताकर्षकको) वासुदेव (जो विशुद्ध चित्तमें आत्मप्रकाश करते हैं, उन वासुदेवको) हरये (जो भक्तका चित्त हरण करनेमें तत्पर हैं, उनको) परमात्मने (जो हृदयमें अधिष्ठित हुए हमारे देहयन्त्र-को चला रहे हैं, उनको) प्रणतक्लेशनाशाय (जो आश्रित भक्तोंके समस्त क्लेश दूर कर देते हैं, उनको) गोविन्दाय (जो भक्तकी अप्राकृत इन्द्रियों द्वारा अनुभव-वेद्य हैं, उनको) नमः नमः (बार-बार प्रणाम करता हूँ)।

ॐ नमो ब्रह्मण्यदेवाय गो-ब्राह्मणहिताय च।
जगत-हिताय कृष्णाय गोविन्दाय नमो नमः ॥ ४० ॥

ब्रह्मण्यदेवाय नमः (ब्रह्मण्य देवको नमस्कार) गो-ब्राह्मणहिताय जगत्-हिताय च कृष्णाय नमः (गोब्राह्मण हितकारी एवं जगतके उपकारक श्रीकृष्णको नमस्कार) गोविन्दाय नमः (जो इन्द्रियोंके अधिष्ठाता होकर हमारी प्रत्येक इन्द्रिय द्वारा आस्वाद्य हैं, उनको नमस्कार)।

हे कृष्ण करुणासिन्धो दीनबन्धो जगत्पते।
गोपेश गोपिकाकान्त राधाकान्त नमोऽस्तु ते ॥ ४१ ॥

हे कृष्ण (हे सर्वचित्ताकर्षक) करुणासिन्धो (दयासागर) दीनबन्धो (अनाथशरण) जगत्पते (जगतके पालक) गोपेश (गोपोंके ईश्वर—सब जीवोंके ईश्वर) गोपिकाकान्त (मधुर भावापन्न रमणीय तत्त्व) राधाकान्त श्रीराधाके वल्लभ) ते नमः अस्तु (तुमको नमस्कार हो)।

ॐ प्राणगोविन्दाय नमः ॥ ४२ ॥

(प्राण एवं इन्द्रियोंके अधिष्ठाता तथा चालकको नमस्कार)।

ब्रह्मानन्दं परमसुखदं केवलं ज्ञानमूर्तिम्
द्वन्द्वातीतं गगनसदृशं तत्त्वमस्यादिलक्ष्यम्।
एकं नित्यं विमलं अचलं सर्वधी-साक्षिभूतं
भावातीतं त्रिगुणरहितं सद्गुरुं तं नमामि ॥ ४३ ॥

ब्रह्मानन्दं (जो परमात्मा-सत्तामें रहते हुए नित्य आनन्द पान करते हैं) परमसुखदं (जो आत्म तत्त्व वितरण कर लोगोंको परम सुख दान करते हैं)

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

केवलं (परमात्म-सत्तामें नित्य रहनेके फलस्वरूप जिनका व्यष्टित्व विलुप्त होकर भूमाके अस्तित्वमें पर्यवसित हो गया है, ज्ञानमूर्ति (एकमात्र ज्ञान ही जिनके शरीरका उपादान है) द्वन्द्वातीतं (जो सुख-दुःखादि द्वन्द्व-रहित हैं) गगनसदृशं (जो आकाशके न्याय व्यापक हैं अर्थात् असीम हैं) तत्त्वमस्यादि-लक्ष्यम् ('तत्-त्वम्-असि' इस महावाक्यके जो लक्ष्य हैं) एकं (जो अद्वितीय सत्तामें अवस्थित हैं) नित्यं (जो कालातीत अपरिच्छिन्न भावमें अवस्थित हैं) विमलं (सर्व प्रकार मलिनता-रहित) अचलं (नित्य स्थिर) सर्वधीसाक्षिभूतं (जो सब जीवोंकी बुद्धि-क्रियाको देख रहे हैं) भावातीतं (जो योगी-ऋषियोंके भावके भी अगम्य हैं, त्रिगुण रहितं (जो तीनों गुणोंकी मलिनतासे रहित हैं) सत् गुरुं तम् नमामि (उन एकमात्र सत् अस्तित्व रूपी गुरुको नमस्कार करता हूँ) ।

अर्थात् परमपुरुष परमात्मा हो जन्म-मृत्यु-जरा-व्याधि साधारण मानवीय धर्म स्वीकार कर साधकके कल्याणार्थ श्रीगुरु रूपमें आविर्भूत होते हैं। उनमें परमात्म-तत्त्वका वैशिष्ट्य पूर्णतः विराजमान है। इसलिए गुरुमें मनुष्य-बुद्धि नहीं रखनी चाहिए।

(७) अग्निका आवाहन

अग्निका मुख्य अर्थ है ब्रह्म, उनका अधिष्ठान है सहस्रार। षट्चक्र-भेद, कुण्डलिनी-जागरण, गायत्री साधन द्वारा चित्तको सहस्रारमें ले जाकर भगवानको जीवका दुःख सुनाना, उनको नीचेके तत्त्वोंमें ले आना, सब तत्त्वोंको भगवद्-भावसे पूर्ण करना, भगवद्-कार्य साधनकी योग्यता लाभ करना—यही अग्नि आवाहनका रहस्य है। इस विषयमें पुराणोंमें वर्णित कथा, देवताओंका ब्रह्माजीको आगे करके वैकुण्ठ अथवा गोलोकमें जाना, चिन्तनीय है। श्रीअरविन्दने इसको 'Descent of the Divine' नाम दिया है। Bible में इसको 'Let thy Kingdom come' कहा गया है। अग्नि देवताओंके पुरोहित, Bible के Holy Ghost, पुराणोंके नारद ऋषि हैं। अर्थात् जो मर्त्यवासियोंको स्वर्गका समाचार सुनाकर स्वर्गमें ले जानेकी व्यवस्था करते हैं, वे ही अग्निकी विभूति, ईश्वरके

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

दूत, हिन्दुओंके देवतादि रहस्य हैं। विभिन्न तत्त्वोंमें अग्निके विभिन्न नाम विभिन्न क्रिया-कलाप, साधनाका गूढ़ रहस्य है।

(वेदीके ऊपर बराबरसे बालू बिछाकर, पूर्व अथवा उत्तरकी ओर मुख करके बैठकर, नीचे बना हुआ चित्र उँगली से बना देना चाहिए)।

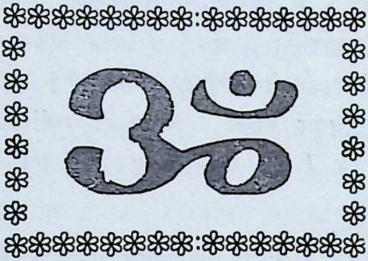

इसके बाद लकड़ियाँ बिछाकर अग्नि जलाओ।

ॐ अग्ने आयाहि वीतये, गृणानो हव्यदातये
नि होता सत्सि वर्हिषि ॥ ४४ ॥

(हे अग्निदेव, तुम इस यज्ञभूमिमें अवतीर्ण हो। हमारे प्रदत्त हविको ग्रहण कर देवताओंके पास पहुँचा दो)।

ॐ अग्ने त्वं इहागच्छ इहागच्छ,
इह तिष्ठ इह तिष्ठ, इह सन्निधेहि,
इह सन्निरुध्यस्व, अत्राधिष्ठानं कुरु,
मम पूजां गृहाण ॥ ४५ ॥

(हे अग्निदेव, तुम इस यज्ञभूमिमें (यजमानकी देहमें) आगमन करो, यहां अवस्थान करो, हमारे सम्मुख प्रकट हो, जब तक यज्ञ समाप्त न हो जाय यहाँसे अन्तर्हित न होना। हमारे भीतर अधिष्ठित हुए हमारी पूजा ग्रहण करो)।

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

फूल चन्दन लो—

ॐ एते गन्धपुष्पे ॐ अग्नये नमः ॥४६॥

—अग्नि में डाल दो।

घी में डुबोकर बेल पत्र लो—

इदम् हविः ॐ अग्नये स्वाहा ॥४७॥

—अग्नि में डाल दो।

(अर्थात, हम गन्ध-पुष्पादिसे अग्निकी पूजा करते हैं, अग्निको यह हवि अर्पण करते हैं।)

ॐ अग्निमीड़े पुरोहितं, यज्ञस्य देवमृत्विजं,
होतारं रत्नधातमम् ॥४८॥

(जो अग्नि देवताओंके पूरोहित हैं, यज्ञके फलदाता हैं, मैं उनकी आराधना करता हूँ।)

अग्नि-वन्दना

ॐ अग्निं प्रज्वलितं वन्दे जातवेदं हुताशनम् ।
सुवर्णवर्णममलं समिद्धं विश्वतोमुखम् ॥४९॥

(मैं) प्रज्वलितं अग्नि वन्दे (प्रज्वलित अग्निकी वन्दना करता हूँ।) जातवेदम् (जो सब सृष्ट पदार्थोंको जानते हैं) हुताशनम् (जो सब हुत, प्रदत्त, निक्षिप्त वस्तुओंको भक्षण करते हैं) सुवर्णवर्णम् (जिनका सोनेका रंग है।) अमलम् (जो सब मल नाशकर द्रव्यको शुद्ध कर देते हैं) समिद्धं (जो सम्यक रूपसे ज्वलनशील हैं) विश्वतोमुखम् (जिनका शिखारूप मुख सब तरफ प्रसारित है)।

गायत्री

ॐ भूः ॐ भुवः ॐ स्वः ॐ महः ॐ जनः ॐ तपः ॐ सत्यम् ।
ॐ तत् सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि
धियो यो नः प्रचोदयात् ॐ ॥५०॥

—इस मन्त्रको पढ़कर सात बार आहुति दो।

इस मंत्रके प्रथम भागको उच्चारणकर, चित्तको मूलाधारसे, षट्चक्र भेदकर, सहस्रारमें ले जाना चाहिए और अपने आपको परम शिवके सम्मुख

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

उपस्थि समझना चाहिए। वहाँ पहुँचकर—'ॐ तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि'—वाक्य-मनके अगोचर वरणीय देवस्य भर्गः, परमात्माकी ब्रह्मज्योतिका ध्यान करना चाहिए और चित्तको ब्रह्मज्योतिमें निमग्न समझना चाहिए। सहस्रारमें, अग्निके प्रकृत ब्रह्मधाममें पहुचकर, अग्निके स्वरूपकी उपलब्धिकर उनसे अपनी-अपनी प्रार्थना करनी चाहिए। इसके बाद, 'धियो यो नः प्रचोदयात्' उच्चारणकर, उस ब्रह्मज्योतिको सब तत्त्वोंमें, आन्तरिन्द्रिय एवं बहिरिन्द्रियमें आनयनकर सब तत्त्वोंको ब्रह्मज्योतिसे भरपूर और भगवत-कार्य करनेमें नियुक्त करना चाहिए। इसीका नाम है अग्निदेवताका अवतरण—श्री अरविन्दकी भाषामें 'Descent of the Divine'। इसके बाद सहस्रारमें और नीचेके सब चक्रों एवं तत्त्वोंमें अग्निका स्वरूप जानकर, प्रत्येक चक्रमें आहुति देनेकी व्यवस्था है।

अर्थात सब तत्त्वोंमें जो मलिनता आ गयी थी जिसके भगवत्-कार्य साधनमें बाधा होती थी, अग्निकी सहायतासे वह सब शुद्धकर, भगवत्-भावसे परिभावित कर, सब तत्त्वोंको भगवत्लीला अनुभव करनी चाहिए।

अग्निका स्वरूप—अग्नि = ब्रह्माग्नि, ज्ञान, विचार ज्ञान। अग्निमें जिस द्रव्यकी आहुति दी जाती है, अग्नि उसकी मलिनता, उसका खोट दूरकर उसे स्वरूपमें प्रतिष्ठित करती है। स्वरूपमें प्रतिष्ठित हो जाना ही उस द्रव्यकी पुष्टि या परिणति है। अग्नि किसी द्रव्यके गलत संस्कारको दूरकर, उसका स्वरूप अवधारण करनेमें सहायता करती है। अग्नि भुक्त द्रव्यको क्रमशः शुद्धकर सुधा में परिणत करती है अर्थात अन्नको उसके प्रकृत स्वरूपमें लेजाती है।

सूर्यकी किरणरूप अग्नि जलकी मलिनता दूरकर उसे प्रकृत स्वरूप सुधामें परिणतकर शिवके मस्तकपर अर्पण करती है। तब वह सुधा गंगारूपमें विष्णुके पादसे उद्भुत होकर ब्रह्माके कमण्डलुके भीतरसे मर्त्यलोकमें आती है, जीवकी आप्यायित करती है, पृथ्वीको शस्यशालिनी बनाती हैं।

मनुष्य, कीट, पतंग, वृक्षादिका ग्रहण किया हुआ अन्न क्रमशः सुधामें परिणत होकर उसके आत्माके पास जाता है। यह नरमेघ यज्ञ है। इसके बाद भगवानका यह पुरुष उस सुधा द्वारा हमारे सब तत्त्वोंको आप्यायित करता है।

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

आप्यायन पुरुषमेध यज्ञ है। इस आप्यायन कार्यमें हमारी सब प्रकारकी मलिनता उस सुधासे युक्त होकर उसे साधारण विकृत अन्नमें पर्यवसित कर देती है। पक्षीका शब्द हमारे कानोंके माध्यमसे, अन्तस्में प्रवेशकर, आत्माके निकट जाकर जो परा अवस्थाको प्राप्त हुआ, यह हुआ नरमेध यज्ञ। फिर वही शब्द पक्षीके परातत्वसे रवाना होकर जो उसके मुखसे वैखरी रूप बाहर निकला, यह हुआ पुरुषमेध यज्ञ।

अग्निका काम है Distil करना, शुद्ध करना, Evolution में सहायता करना, अन्नको सुधामें परिणत करना। यही सुधा विपरीत क्रममें धीरे-धीरे जीव-जगत रूपमें परिणत या विवर्तित होती है। अग्नि इस परिणाम या विवर्तन को दूरकर अन्नको सुधामें, रयिमें परिणत करती हैं। वहाँ पहुँचकर अन्न और आन्नादका, प्राण और रयिका, 'इदं' और 'अहं' का एकत्व साधित हो जाता है। अग्निका काम है उसमें अर्पित द्रव्यको शुद्ध करना, उसे उसके स्वरूपमें प्रतिष्ठत करना। हम इसी उद्देश्यसे यजमानको, यजमानके प्रतीकको, अग्निमें आहुत देते हैं। आहुतिके फलस्वरूप God the son, God the Fateer में अर्थात् 'त्वं' पदार्थ 'तत्' पदार्थमें जाकर पर्यवसित हो जाता हैं। द्रष्टव्य—अग्नितत्व।

सहस्रारमें—

ॐ अग्ने त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि।
ॐ ब्रह्मणे स्वाहा ॐ अग्नये स्वाहा ॥५१॥

आहुति दो।

अर्थात् अग्निकी संस्कारजनित मलिनता दूरकर प्रकृत ब्रह्मस्वरूपमें उपलब्धि करनी चाहिए। अग्नि = ब्रह्मज्ञान)।

आज्ञाचक्रमें—

ॐ अग्ने त्वमेव देवस्य भर्गोऽसि।
ॐ अग्नये स्वाहा ॐ भर्गोरूपाय ब्रह्मणे स्वाहा ॥ ५२॥

—आहुति दो।

(यहाँ आज्ञाचक्रमें चित्त स्थिरकर, ब्रह्मज्योतिका दर्शन कर, अग्निको भर्गोरूपमें अनुभवकर, ब्रह्मको आहुति देनी चाहिए। इस आहुतिके फलस्वरूप

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

ब्रह्मज्योति हमारी संस्कार जनित उपाधिसे मुक्त होकर अपने स्वरूपमें प्रकट होगी)।

अनाहतमें—

ॐ अग्ने त्वमेव देवस्य प्राणोऽसि।
ॐ अग्नेय स्वाहा ॐ प्राणरूपाय ब्रह्मणे स्वाहा। ५३ ॥

आहुति दो।

(इसके बाद चित्तको अनाहत चक्रमें लाकर अग्निका प्राण रूप में आविर्भाव उपलब्धि कर प्राणरूप ब्रह्मको आहुति प्रदान करनी चाहिए। इसके फलस्वरूप प्राणतत्वका प्रकृत स्वरूप उपलब्धि करनेकी योग्यता लाभ होगी)।

मणिपुरमें—

ॐ अग्ने त्वमेव वैश्वानरोऽसि।
ॐ अग्नये स्वाहा ॐ वैश्वानररूपाय ब्रह्मणे स्वाहा ॥ ५४॥

आहुति दो।

(अब चित्तको मणिपुरमें लाकर अग्निको वैश्वानर रूपमें, शरीरके चालक रूपमें अनुभव कर, वैश्वानर रूपी ब्रह्मको आहुति देनी चाहिए। इसके फलस्वरूप वैश्वानरका प्रकृत तत्व एवं कार्यकलाप अनुभवमें आयेगा)।

मूलाधारमें—

ॐ अग्ने त्वमेवायं प्रज्वलितो वन्हि्रसि।
ॐ अग्नये स्वाहा ॐ वन्हि्रूपाय ब्रह्मणे स्वाहा ॥ ५५ ॥

—आहुति दो।

(तदन्तर चित्तको मूलाधारमें लाकर सम्मुखस्थ प्रज्वलित अग्निकों ब्रह्माग्निका प्रतिरूप अनुभव कर आहुति देनी होगी। इसके परिणामस्वरूप स्थूल अग्निमें अग्नि तत्वका आविर्भाव अनुभवमें आयेगा)। तब यह अग्नि ब्रह्मरूपमें प्रतीयमान होगी।

ॐ अयमग्निः सर्वेषां भूतानां मधु,
अस्य अग्नेः सर्वाणि भूतानि मधु,
Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal
यश्चायं अस्मिन्नग्नौ तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषः,

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

यश्चायं अध्यात्मं वङ्मयस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषः
अयमेव स यो अयमात्मा
इदं ब्रह्म इदममृतं इदं सर्वं स्वहा ॥ ५६ ॥

—आहुति दो

अयम् अग्निः सर्वेषां भूतानां मधु (यह अग्नि समस्त भूतगणको प्रिय हैं) सर्वाणि भूतानि अस्य अग्नेः मधु (सब सृष्ट पदार्थ इस अग्निको प्रिय है) अस्मिन् अग्नौ यः च अयम् तेजोमयः अमृतमयः पुरुषः (इस अग्निमें जो साक्षात् तेजोमय अमृतमय पुरुष वर्तमान हैं अर्थात् यह अग्नि केवल जड़ पदार्थ नहीं है) यः च अयम् अध्यात्मं वाङ्मयः तेजोमयः अमृतमय पुरुषः (एवं वे पुरुष अग्नि के आत्मरूपमें, इसके अणु-परमाणुमें अनुस्यूत हैं और वाक्, तेज अमृत द्वारा गठित हैं अथवा जो अध्यात्मरूपमें, ज्योतिर्मय वाक्‌रूपमें, अमृतरूपमें प्रकटित हैं) अयम् एव सः यः अयमात्मा (वे ही देवता मेरे भी आत्मा हैं)इदं ब्रह्म इदं अमृतं (ये ही ब्रह्म एवं अमृत पुरुष नामसे वर्णित हैं) इदं सर्व स्वाहा (ये ही मेरे सर्वस्व हैं इसलिए इस अग्निमें मैं अपनी पृथक सत्ता-बोधको अर्पण करता हूँ) ।

यहाँ अनुभव करना चाहिये कि अग्नितत्व ही हमारे भीतरका सारतत्त्व, ज्ञान और आनन्दका मूलस्रोत एवं समस्त शक्तिका चालक है और इस अग्निको सब निवेदनकर, अग्निसे तन्मय होकर, अग्निका यथार्थ स्वरूप उपलब्धि करना चाहिए ।

अखिल-भुवन-गर्भे वर्तसे चित्स्वरूपो
विलसति विभवस्ते स्थूल-सूक्ष्मः परश्च।
अनल-वपुरिह त्वं ब्रह्म प्रत्यक्षरूपं
स खलु निवस यज्ञे साधु हव्यं गृहाण ॥ ५७ ॥

(हे अग्नि) अखिलभुवनगर्भे चित्स्वरूपः वर्तसे (तुम सकल भुवनमें चैतन्य ज्योतिरूपमें विराजमान हो) स्थूल सूक्ष्मः परश्चत ते विभवः विलसति (स्थूल सूक्ष्म और कारण जगतमें भी तुम्हारी विभूति प्रकाशित हो रही है) । इह त्वं अनलवपुः प्रत्यक्षरूपं ब्रह्म (इस यज्ञभूमिमें तुम स्थूल अग्नि-शरीरमें, प्रत्यक्ष ब्रह्मस्वरूपमें अवस्थित हो) । सः खलु यज्ञे निवस हव्यं साधु गृहाण (एतादृश

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

तुम हमारे इस यज्ञ में अधिष्ठत हो और हमारे आहुत द्रव्यादिको सम्यक रूपसे ग्रहण करो)।

चित्तस्य नः सकलभावमयः प्रपंचो
यैषा क्रिया प्रविवता खलु प्राणमूला।
हव्येन मे तदखिलं त्वयि चास्तु दत्तं
स्पष्टीकुरुष्व मयि ते नरमेधयज्ञम् ॥ ५८ ॥

नः चित्तस्य सकलभावमयः प्रपंचः (हमारे चित्तका सब भावमय प्रपंच) खलु प्राणमूला प्रवितता या एषा क्रिया प्राणमूलक नाना प्रकारकी क्रियायें) में तद् अखिलं हव्येन त्वयि दत्तम् च अस्तु (मेरे सब हव्यरूप प्रतीक द्वारा तुमको अर्पित हो जाएँ) मयि ते नरमेधयज्ञम् स्वष्टीकुरुष्व (मेरे भीतर तुम्हारे नरमेघयज्ञ तत्वको स्पष्ट कर दो।

यच्चास्माकं हुतं द्रव्यं यच्चास्ति भावनात्कम्।
ताभ्यां शुद्धिः सदा चास्तु स्थूल-सूक्ष्म-शरीरयो ॥५९ ॥

अस्माकं यत् च हुतं द्रव्यं (हमारे सब आहुत स्थूल द्रव्य) यत् च भावनात्मकं द्रव्यं अस्ति (और जो कुछ भावनात्मक आहुतियाँ हैं) ताभ्यां सदा स्थूल-सूक्ष्म-शरीरयो शुद्धिः अस्तु च (उन दोनोंके द्वारा हमारे स्थूल एवं सूक्ष्म शरीरकी शुद्धि होजाय)।

ॐ अग्ने नय सुपथा राये अस्मान्
विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्।
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो
भूयिष्ठां ते नम-उक्ति विधेम ॥ ६०॥

अग्ने अस्मान् राये सुपया नय (हे अग्नि, हमें धनप्राप्ति, कर्मफलप्राप्तिके लिए सुपथ पर ले चलो) देव [त्वं] विश्वानि वयुनानि विद्वान् (हे देव, तुम समस्त कर्मादिको जानते हो) अस्मद् जुहुराणम् एनः युयोधि (हमारे सब कुटिल अपकारी पापोंको नाश करो) ते भूयिष्ठां नम-उक्ति विधेम (तुमको प्रभूत नमस्कार उच्चारण करते हैं)।

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

हे अग्नि ! मैंने तुम्हें आत्मसमर्पण कर दिया । तुम मुझे हाथ पकड़कर अपने प्रियतमके निकट ले चलो ।

ॐ वैश्वानर जातवेद इहावह लोहिताक्ष
सर्वकर्माणि साधय स्वाहा ॥६१॥

—आहुति दो ।

वैश्वानर जातवेद लोहिताक्ष (हे अग्नि, तुम वैश्वानर, जातवेद, लोहिताक्ष, विविध नामोंसे परिचित हो) इह आवह (हमारी यज्ञभूमिमें देवताओं सहित अवतीर्ण हो) सर्वकर्माणि साधय स्वाहा (समुदय कर्म हमसे करा लो, हम तुमको आहुति अर्पण करते हैं) ।

हे अग्नि ! तुम अपने गुणातीत स्वरूपसे आविर्भूत होकर रजोगुण द्वारा प्रकाशित हो । अपनी क्रियाशक्तिसे हमारे द्वारा सब काम करा लो ।

(८) शुद्धि

यहाँ शुद्धितत्त्व चिन्तनीय है (देखो 'पूजातत्त्व') । हमें देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, आदि दिये गये थे भगवत्सत्ता उपलब्धि करनेके लिये, इन तत्वोंको घगवद् भावसे परिभावित कर, भगवत् शक्तिसे शक्तिमान कर, भगवत्कार्य साधन करनेके लिए । लेकिन अज्ञानता, स्वार्थपरता, प्रतिष्ठा-मोह अहंता-ममता संस्कारादि द्वारा हमने इनको मलिन कर दिया । इसीलिये नेत्रादि इन्द्रियोंमें अब दूरदर्शन, सूक्ष्मदर्शन, दिव्यदर्शनकी शक्ति नहीं रही । किन्तु दिव्य दर्शन लाभ किये बिना भगवद् दर्शन असम्भव है । इसके लिये योगक्रिया एवं ध्यानादि द्वारा सव तत्त्वोंको, पंचभूतोंको, पंचभूत सहित देहादिकी सब क्रियाओंको शुद्ध करनेकी व्यवस्था है । आधार ठीक न हो तो भगवानको धारण कैसे किया जायगा । याद रखना चाहिए कि आदर्श नर, भगवानका सखा अर्जुन दिव्य चक्षु पाकर भी भगवद्-ज्योति सहन नहीं कर सका था । शुद्धितत्त्व द्वारा चित्तके सब मलिन संस्कार (कामना, वासना, आसक्ति, अहंता, ममता आदि) शून्य करके, भगवत् महिमा समझनेकी योग्यता लाभ होती है । जलशुद्धिके अन्तर्गत आत्माको देहाध्याससे मुक्तकर स्वरूपप्रतिष्ठ करनेकी व्यवस्था है ।

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

ॐ अग्ने त्वं सर्वभूतानामन्तश्चरसि पावकः ।
अतः शोधय चित्तं मे येन सत्यं बिभर्म्यहम् ॥६२॥

अग्ने (हे अग्नि) त्वं पावकः [सन्] (तुम पवित्रता सम्पादक रूपमें) सर्वभूतानां अन्तः चरसि (सब जीवोंके अभ्यन्तरमें विचरण करते हो)। अतः मे चित्तं शोधय (अतएव मेरे चित्तको शुद्ध करदो) येन अहं सत्यं बिभर्मि (जिससे कि मैं सत्य स्वरूपको धारण कर सकूँ)।

निम्नलिखित प्रत्येक मन्त्रके बाद आहुति दो :—

ॐ शिरः-पाणि-पाद पार्श्व-पृष्ठोदर-जंघा-
शिश्नोपस्थपायवो मे शुध्यन्ताम् ।
ॐ ज्योतिरहं विरजा विपाप्मा भूयासं स्वाहा ॥६३॥

(मेरे मस्तक, हाथ, पैर, पार्श्व, पीठ, जांघ, शिश्न, उपस्थ, पायु सब शुद्ध हो जांय) अहं ज्योतिः (मैं ज्योतिःस्वरूप) विरजाः (रजोगुण रहित) विपाप्मा भूयासं (निष्पाप हो जाऊँ)।

ॐ त्वक्-चर्म-मांस-रुधिर-मेदो-मज्जा-स्नायु-अस्थीनि मे शुध्यन्ताम् ।
ॐ ज्योतिरहं विरजा विपाप्मा भूयासं स्वाहा ॥६४॥

(मेरे त्वक् चर्म, मांस, रुधिर, मेद, मज्जा, स्नायु, अस्थि सब शुद्ध हो जाँय। अर्थात् मेरा देहतत्त्व पूर्णतः शुद्ध होकर तुम्हारी धारणा करनेकी योग्यता लाभ करे)।

ॐ पृथिव्यप् तेजो-वायु आकाशा मे शुध्यन्ताम् ।
ॐ ज्योतिरहं विरजा विपाप्मा भूयासं स्वाहा ॥६५॥

(मेरे देहस्थ पंचतत्त्व सब शुद्ध हो जाँय। मैं ज्योतिःस्वरूप निर्मल, निष्पाप हो जाऊँ। उसीके निमित्त हे अग्निदेव, यह आहुति प्रदान करता हूँ)।

ॐ शब्द-स्पर्श रूप-रस-गन्धा मे शुध्यन्ताम् ।
ॐ ज्योतिरहं विरजा विपाप्मा भूयासं स्वाहा ॥६६॥

(मेरे देहस्थ शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध सब शुद्ध हो जाँय)

ॐ मनो वाक्-काय कर्माणि मे शुध्यन्ताम् ।
ॐ ज्योतिरहं विरजा विपाप्मा भूयासं स्वाहा ॥६७॥

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

(मेरे मन, वाक्, काय और समस्त कर्म शुद्ध हो जाँय)

ॐ **प्राणापान-व्यान-समानोदाना मे शुध्यन्ताम् ।**

ॐ **ज्योतिरहं विरजा विपाप्मा भूयासं स्वाहा ।।६८।।**

(मेरे पंच प्राण शुद्ध हो जाँय) ।

ॐ **वाङ्-मनस्-चक्षुःश्रोत्र-जिह्वा-घ्राण-रेतो-बुद्धयाकूति-संकल्पा मे शुध्यन्ताम् ।**

ॐ **ज्योतिरहं विरजा विपाप्मा भूयासं स्वाहा ।।६९।।**

(मेरे वाक्य, मन, चक्षु, श्रोत्र, जिह्वा, नासिका, रेत, बुद्धि, अभिप्राय एवं संकल्प सब शुद्ध हो जाँय) ।

ॐ **आत्मा मे शुध्यताम् ।**

ॐ **ज्योतिरहं विरजा विपाप्मा भूयासं स्वाहा ।।७०।।**

(मेरी आत्मा भी शुद्ध हो जाय) ।

ॐ **परमात्मा मे शुध्यताम् ।**

ॐ **ज्योतिरहं विरजा विपाप्मा भूयासं स्वाहा ।।७१।।**

(मेरे परमात्मा भी शुद्ध हो जाँय) ।

आत्मा और परमात्माके शुद्ध हो जानेका अर्थ यह है कि उनके बामेंरे जो मेरी गलत या विकृत धारणा है वह दूर हो जाय और प्रकृत ज्ञान प्राप्त करूँ ।

ज्योतिरहं इत्यादिका अर्थ है कि 'हे अग्नि, मैं अपनी सब मलिनता, कामना वासना, संस्कारादि तुम्हें समर्पण करता हूँ । मैं अपने प्रकृत ज्योतिर्मय, ज्ञानमय, मोह-तमोगुण रहित शुद्धस्वरूपको प्राप्त होऊँ ।

ॐ **क्षुत्पिपासे क्षुत्पिपासाभ्यां स्वाहा ।।७२।।**

(क्षुत्पिपासादि अधिष्ठात्री देवताओंको इस आहुतिका अंश अर्पण करता हूँ) ।

ॐ **कामः कामाय स्वाहा ।** ॐ **क्रोधः क्रोधाय स्वाहा ।**

ॐ **लोभः लोभाय स्वाहा ।** ॐ **मोहः मोहाय स्वाहा ।**

ॐ **मदः मदाय स्वाहा ।** ॐ **मात्सर्यं मात्सर्याय स्वाहा ।**

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

ॐ कामना कामनायै स्वाहा ॐ वासना वासनायै स्वाहा।
ॐ अहंकारः अहंकाराय स्वाहा ॐ आसक्तिः आसक्त्यै स्वाहा।
ॐ सुखस्पृहा सुखस्पृहायै स्वाहा ॐ लोकैषणा लोकैषणायै स्वाहा।
ॐ ममता ममतायै स्वाहा। ॐ अहंता अहंतायै स्वाहा ॥७३॥

(अर्थ—भगवद्दत्त कामादि प्रवृत्तियोंमें अज्ञानता और संस्कारके कारण जो मलिनता आ गयी है वह सब अग्निमें आहुति द्वारा दूर हो जाँय और इन सबको केवल भगवद् उद्देश्य पूर्ण करनेमें नियुक्त करूँ)।

ॐ प्राणाय स्वाहा। ॐ अपानाय स्वाहा।
ॐ समानाय स्वाहा। ॐ उदानाय स्वाहा।
ॐ व्यानाय स्वाहा ॥७४॥

(पंच प्राणोंकी आहुति देनेका अर्थ है कि ये सब शुद्ध होकर अपना-अपना कार्य करनेमें समर्थ हों)।

ॐ ऋषिभ्यः स्वाहा। ॐ पितृभ्यः स्वाहा।
ॐ जीवेभ्यः स्वाहा। ॐ देवेभ्यः स्वाहा।
ॐ परमात्मने स्वाहा। ॐ ब्रह्मणे स्वाहा।
ॐ विष्णवे स्वाहा। ॐ रुद्राय स्वाहा ॥७५॥

(ऋषिगण तृप्त होकर अपनी आविष्कृत ब्रह्मविद्या का स्फुरण करें। पितृगण अभावमुक्त और स्वरूपप्रतिष्ठ होकर हमारे सम्मुख शुद्ध स्वरूपमें प्रकट हों और हमारा प्रकृत कल्याण करें। परमात्मा तथा देवताओंके सम्बन्धमें हमारी विकृत धारणा दूर हो जाय और उनका प्रकृत स्वरूप दर्शन करनेमें अग्नि हमारी सहायता करें।

(९) इष्ट देवताका हवन

तत्त्व और उनकी वृत्तियाँ शुद्ध हो जानेपर साधकके निकट इष्टतत्त्वका स्फुरण होता है। इष्टदेव ही हमारे सत्ता, चैतन्य और आनन्दके मूल स्रोत हैं—यह तत्त्व अनुभवमें आनेपर इष्टको आत्मनिवेदन करना स्वाभाविक हो जाता है। तब समझमें आता है कि वे सर्वस्व हैं, सब

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

कर रहे हैं, हम केवल अहंलारके वश होकर दुःख भोग रहे थे। इष्टदेवको आत्मनिवेदनकर साधक इष्टमय हो जाता है। देवभावापन्न हुए बिना देवताकी पूजा असम्भव है।

ॐ त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पुष्टिवर्धनम्।
उर्वारुकमिव बन्धनान् मृत्योर्मुक्षीय मामृतात्॥
ॐ हूँ जुं सः ॐ नमः शिवाय स्वाहा ॥७६॥

—तीन बार आहुति दो।

सुगन्धिं पुष्टिवर्धनं त्र्यम्बकं यजामहे (सुगन्धयुक्त, पुष्टि और अभ्युदय प्रदानकारी त्र्यम्बक महामृत्युंजय भगवान शिव की हम आराधना करते हैं)। [सः मां] मृत्योः बन्धनात् (वे मुझको मृत्युरूप संसार-बन्वन से) उर्वारुकम् इव (पकी हुई फलीकी तरह अर्थात् पकी हुई फली जैसे अपने आप फटके गिर जाती है उसी तरह) मुक्षीय (मुक्त करें) मां अमृतात् (अमृतसे मैं कभी विच्युत न होऊँ)।

ओम् ह्रीं दुर्गायै स्वाहा ॥७७॥
(ॐदुर्गे दुर्गे रक्षणि स्वाहा)

(तीन बार आहुति दों)।

ओम् क्लीं कृष्णाय स्वाहा ॥७८॥

(तीन बार आहुति दो)।

(शिव, दुर्गा, कृष्ण, आदिमें जिसका जो इष्ट हो वही मंत्र पढ़कर आहुति देना चाहिए। इसके फलस्वरूप साधक इष्टमय होजाता है।

(१०) आवरण मोचन

अब साधक अपने और श्री भगवानके बीच सामान्य व्यवधान भी सहन नहीं कर सकता। इसलिए हिरण्मय आवरणके भी दूर करनेके लिये प्रार्थना करता है। यह आवरण दूर करना साधकके हाथमें नहीं है—यह भगवत् कृपासे होता है। गोपियोंका वस्त्रहरण तत्त्व यहाँ चिन्तनीय है। याद रखना चाहिए कि गोपियोंका वस्त्र था परा, पश्यन्ती मध्यमा और वैखरी रूप आवरण—इनके दूर हो जानेपर सर्वत्र भगवद्दर्शन स्वाभाविक हो जाता है।

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

ओम् हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यामिहितं मुखम् ।
तत् त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये ।।७९।।

हिरण्मयेन पात्रेण (हिरण्मय पात्र द्वारा अर्थात् ज्योतिर्मय आवरण द्वारा) सत्यस्य मुखं अपिहितं (सत्य का मुख ढका हुआ है) । पूषन् ! (हे पूषादेव) त्वं सत्यधर्माय दृष्टये (तुम मुझे सत्य दर्शन करने के लिये) तत् आपवृणु (उस आवरणको हटा दो) । इस समय भक्त और भगवानके बीच सामान्य व्यवधान भी सहन नहीं होता ।

(११) महाव्याहृति हवन अथवा महाकर्षणानूभूति

जैसे शुद्ध लोहा चुम्बककी ओर आकृष्ट होता है उसी प्रकार शुद्ध चिद्ध साधक भी सब तरफसे भगवानकी ओर आकृष्ट होता है । इस समय साधक सब भूतोंमें भगवानका आह्वान, भगवानकी मुरलीध्वनि सुनकर अवनत हो जाता है । महाव्याहृति अर्थात महा-आकर्षण अनुभवकर साधक सबको प्रणाम करने लगता है ।

ओम् भूः स्वाहा इदमग्नये ।

—आहुति दो ।

ओम् भुवः स्वाहा इदम् वायवे ।

—आहुति दो ।

ओम् स्व स्वाहा इदम् सूर्याय ।

—आहुति दो ।

ओम् भूर्भुवः स्वः स्वाहा इदं परमज्योतिषे ।।८०।।

—आहुति दो ।

भूः स्वाहा इदमग्नये (पृथिवीको दी हुई यह आहुति तत् अभिन्न अग्नि देवताके पास पहुँचे) । भुवः स्वाहा इदं वायवे (अन्तरिक्षि लोकको दी हुई यह आहुति तद् अभिन्न वायु देवताको समर्पित हो) स्वः स्वाहा इदं सूर्याय (स्वर्गलोकको दी हुई यह आहुति द्युलोकस्थान सूर्यदेवको समर्पित हो) भूर्भुवः स्वः स्वाहा इदं परमज्योतिषे (भूर्लोक, भुवर्लोक और स्वर्लोकको दी हुई यह आहुति परम ज्योतिःस्वरूप परम ब्रह्मको समर्पित हो) । इस अवस्थामें साधक सब शब्दस्पर्शादिके भीतर भगवानका आह्वान सुनकर अस्थिर हो जाता है ।

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

(१२) शुद्ध चित्तको भगवद्भावसे पूर्ण करना

अभी तक आधार-पात्र संस्कार-गोबरसे भरा हुआ था, इसलिए भगवान् उसमें अमृत नहीं दे सके। अब आधार शुद्ध हुआ तो सब तत्त्व, भगवत्-कृपासे, दिव्य दर्शन लाभकर, भगवद् भावसे पूर्ण हो गये। फलस्वरूप सर्वभूतमें भगवद् दर्शन स्वाभाविक हो गया।

> कामादिका रिपुगणा महसैव नष्टाः
> प्लुष्टाश्च मे हृदिशयाः सकलास्तु कामाः।
> शून्यं मदीय-हृदयं करुणामय त्वम्
> ऐशेन भाव-निचयेन परिपूरयस्व ॥८१॥

महसा एव (तुम्हारे तेज से ही) कामादिकाः रिपुगणाः नष्टाः (कामादि रिपुगण विनष्ट हो गये)। मे हृदिशयाः सकलाः कामाः तु (मेरे हृदयस्थ सब कामादि भी) प्लुष्टाः च (भस्म हो गये)। करुणामय त्वं शून्यं मदीय हृदयं (हे करुणामय अग्निदेव, तुम मेरे शून्य हृदयको) ऐशेन भावनिचयेन परिपूरयस्व (ऐश्वरिक भाव-समूह से परिपूर्ण कर दो)। निम्न लिखित प्रत्येक मंत्रके बाद आहुति दो)।

> ओम् बलमसि बलं मयि धेहि स्वाहा।
> ओम् वीर्यमसि वीर्यं मयि धेहि स्वाहा।
> ओम् सहोऽसि सहो मयि धेहि स्वाहा।
> ओम् तेजोऽसि तेजो मयि धेहि स्वाहा।
> ओम् शुद्धोऽसि शुद्धिं मयि धेहि स्वाहा।
> ओम् बुद्धोऽसि बुद्धिं मयि धेहि स्वाहा।
> ओम् मुक्तोऽसि मुक्तिं मयि धेहि स्वाहा।
> ओम् शान्तोऽसि शान्तिं मयि धेहि स्वाहा।
> ओम् शिवोऽसि शिवं मयि धेहि स्वाहा।
> ओम् सुन्दरोऽसि सौन्दर्यं मयि धेहि स्वाहा।
> ओम् सत्यमसि सत्यं मयि धेहि स्वाहा।

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

ओम् स्थैर्यमसि स्थैयं मयि धेहि स्वाहा ।
ओम् ज्ञानमसि ज्ञानं मयि धेहि स्वाहा ।
ओम् आनन्दोऽसि आनन्दं मयि धेहि स्वाहा ॥८२॥

(तुम बल, वीर्य, सहन शक्ति, आदि स्वरूप हो, मुझमें यह सब गुण आधान करो) ।

(१३) द्वन्द्व भाव दूरीकरण

द्वन्द्व भाव, भेद भाव रहते हुए भगवत्प्राप्ति असम्भव है । अब साधकके चित्तसे समस्त द्वन्द्व भाव अपने-आपही दूर होने लगे । द्वन्द्वभाव दूर होनेसे साधक अमूढ़ हो गया और भगवान्के अमर धाममें प्रवेश करनेका अधिकार लाभ किया । "द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञैः गच्छन्ति अमूढाः पदमव्यतं तत्"—(गीता १५।५ ।)

ओम् धर्माय स्वाहा । ओम् अधर्माय स्वाहा ।
ओम् वैराग्याये स्वाहा । ओम् अवैराग्याये स्वाहा
ओम् ज्ञानाय स्वाहा । ओम् अज्ञानाय स्वाहा ।
ओम् ऐश्वर्याय स्वाहा । ओम् अनैश्वर्याय स्वाहा ॥८३॥

(१४) व्याकुलता प्रार्थना

अब साधक सम्पूर्णतः भगवानको प्राप्त करनेके लिए व्याकुल है । गोपियोंका कृष्णानुशीलन तत्त्व यहाँ आस्वादनीय है । अब साधक प्रत्येक पदार्थमें प्रियतमको देखना चाहता हैं और जिससे भी मिलता है उसको अपना सर्वस्व अर्पणकर सहायताके लिए प्रार्थना करता हैं । 'इतर-राम-विस्मरण' सिद्ध हो गया—भगवानको छोड़कर अब और कुछ भी अच्छा नहीं लगता, और कुछ नहीं चाहता । इस अवस्थामें आरम्भ होती हैं व्रजगोपियोंकी तरह सब पदार्थोंसे भगवद्-दर्शन करा देनेके लिए प्रार्थना ।

ओम् यत्र ब्रह्मविदो यान्ति, दीक्षया तपसा सह
ओम् अग्निः मा तत्र नयतु, अग्निर्मेधा दधातु मे
ओम् अग्नये स्वाहा इदमग्नये इदन्न मम ॥८४॥

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

तत्र (जहां) ब्रह्मविदः दीक्षया तपसा सह यान्ति (दीक्षा और तपस्याके बलसे ब्रह्मविद्गण जाते हैं) अग्निः या तत्र नयतु (हे अग्निदेव मुझे वहीं ले चलें)। अग्निः मे मेधा दधातु (अग्निदेव मुझे मेधा प्रदान करें)। अग्नये स्वाहा (अग्निमें आहुति देता हूँ) इदम् अग्नये (यह अग्निको ही है) इदम् न मम (यह मेरी नहीं है)। ८४ से ९१ श्लोक तकका अर्थ इसी प्रकार है।

ओम् यत्र ब्रह्मविदो यान्ति, दीक्षया तपसा सह
ओम् वायुः मा तत्र नयतु, वायुः प्राणान् दधातु मे
ओम् वायवे स्वाहा, इदं वायवे इदन्न मम ॥८५॥
ओम् यत्र ब्रह्मविदो यान्ति, दीक्षया तपसा सह
ओम् सूर्यो मा तत्र नयपु, चक्षुः सूर्यो दधातु मे
ओम् सूर्याय स्वाहा, इदं सूर्याय इदन्न मम ॥८६॥
ओम् यत्र ब्रह्मविदो यान्ति, दीक्षया तपसा सह
ओम् चन्द्रो मा तत्र नयतु, मनश्चन्द्रो दधातु मे
ओम् चन्द्राय स्वाहा, इदं चन्द्राय इदन्न मम॥८७॥
ओम् यत्र ब्रह्मविदो यान्ति, दीक्षया तपसा सह
ॐ सोमो मा तत्र नयतु, पयः सोमो दधातु मे
ॐ सोमाय स्वाहा, इदं सोमाय इदन्न मम ॥८८॥
ॐ यत्र ब्रह्मविदो यान्ति, दीक्षया तपसा सह
ॐ इन्द्रो मा तत्र नयतु, बलमिन्द्रो दधातु मे
ॐ इन्द्राय स्वाहा, इदं इन्द्राय इदन्न मम ॥८९॥
ॐ यत्र ब्रह्मविदो यान्ति, दीक्षया तपसा सह
ॐ आपो मा तत्र नयन्तु, अमृतं मोपतिष्ठतु
ॐ अद्भ्यः स्वाहा, इदमद्भ्यः इदन्न मम ॥९०॥
ॐ यत्र ब्रह्मविदो यान्ति, दीक्षया तपसा सह
ॐ ब्रह्मा मा तत्र नयतु, ब्रह्मा ब्रह्म दधातु मे
ॐ ब्रह्मणे स्वाहा, इदं ब्रह्मणे इदन्न मम ॥९१॥

प्राणान (प्राणशक्ति); सोमः (सोमदेव); पयः (प्राण संजीवन रस); अमृतं

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

मा उपतिष्ठतु (अमरत्व मुझको प्राप्त हो जाय); मे ब्रह्म दधातु (मुझे वेदज्ञान प्रदान करो) ।

(१५) सर्वभूतमें भगवद्दर्शन

साधकको इस अवस्थामें भगवान दर्शन दिये बिना नहीं रह सकते । अहंकार-का व्यवधान दूर होजाने पर भगवान साधकके भीतरही आत्मप्रकाश करते हैं। भगवत्-भावसे परिभावित हो जानेके कारण अब साधक सब भूतोंमें सब पदार्थोंमें भगवानको ही देखता है । सर्वत्र भगवद्दर्शन, सर्वत्र नति, सर्वत्र आत्मानुभूति स्वाभाविक हो जाती है। इस अवस्थाका संगीत है……"जित देखौं तित श्याममयी है", "जिधर देखता हूँ उधर तू ही तू है ।"

ॐ पृथिव्यै स्वाहा । ॐ अद्भ्यः स्वाहा ।
,, अग्नये स्वाहा । ॐ वायवे स्वाहा ।
,, दिवे स्वाहा । ॐ अन्तरिक्षाय स्वाहा ।
,, नक्षत्रेभ्य स्वाहा। ॐ कुबेराय स्वाहा ।
,, वरुणाय स्वाहा । ॐ रुद्राय स्वाहा ।
,, पशुपतये स्वावाहा। । ॐ भुवनपतये स्वाहा ।
,, भूतानां पतये स्वाहा । ॐ प्रजापतये स्वाहा ।
,, नवग्रहेभ्यः स्वाहा । ॐ दशदिक्पालेभ्यः स्वाहा ।
,, ओषधिवनस्पतिभ्यः स्वाहा । ॐ भूतेभ्यः स्वाहा ।
,, मनुष्येभ्यः स्वाहा । ॐ देवेभ्यः स्वाहा ।
ॐ परमेष्ठिने स्वाहा ॥९२॥

(१६) भावनात्मक यज्ञ

द्रव्यात्मक यज्ञ तक जीवका काम है । इस क्रियासे सब तत्त्व शुद्ध हो जाते हैं और भगवत्तत्त्व उपलब्धिकी योग्यता लाभ होती है। चित्त जब जगतके प्रति शून्य हो जाता है तो भगवान उस खाली चित्तको भगवद्भावसे भर देते है । तब साधक भगवद्भावसे परिभावित होकर भीतर एवं बाहर भगवानका कार्य कलाप अर्थात् भगवल्लीला दर्शन करनेकी योग्यता लाभ करता है। यहाँ

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

तक ध्याता और ध्येय पृथक् रूपमें उपलब्ध होते हैं। इसके बाद आरम्भ होता है सामवेदका भावनात्मक यज्ञ। साधकके सब तत्त्व भगवद्भावसे भरपूर हो जाने पर वह अपने प्रत्येक तत्त्वकी क्रियामें भगवानका कार्यकलाप, उनका यज्ञकाण्ड अनुभव करता है। साधक अपने भीतर भगवानकी लीला दर्शन कर विमोहित हो जाता है। आँख खोलनेकी इच्छा नहीं होती कि कहीं दर्शन लुप्त न हो जाय। किन्तु भगवान सर्वत्र लीलानुभूतिके लिए जोर करके साधककी आँखें खोल देते हैं। तब साधक भगवतभावसे पूर्णतः परिभावित होकर बाहरके सब तत्त्वोंमें भी भगवानका अस्तित्व, भगवानकी लीला दर्शनकर समाधिमग्न हो जाता है। आँख खोलने पर जाग्रत समाधि, आँख बन्द करने पर स्वप्न समाधि। तब साधक सच्चिदानन्द ज्योतिर्मय रूपका दर्शन करता है

ॐ सच्चिदानन्द-देवेशो भास्वरः सर्वरूपधृक्।
सर्वेषामन्तः तिष्ठन् हि गृह्णातु हव्यमुत्तमम् ॥९३॥

सच्चिदानन्द-देवेशः (सच्चिदानन्द स्वरूप, देवताओंके भी ईश्वर) भास्वरः (ज्योतिर्मय) सर्वरूपधृक् (विश्वरूप भगवान) सर्वेषाम् अन्तः तिष्ठन् हि (सबके अन्तर्यामी रूपमें स्थित हुए) उत्तमं हव्यम् गृह्णातु (इस उत्तम हविको ग्रहण करें)।

त्वं सर्वभूतेषु विराजसे सदा
सर्वेषु जीवेष्वसि जीवनं स्वयम्।
त्वद्दर्शनं सर्वग मेऽस्तु सर्वतः
तवैव पूजास्तु च कर्मभिर्मम ॥९४॥

त्वं सर्वभूतेषु सदा विराजसे (तुम सब सृष्ट पदार्थोंमें सर्वदा विराजमान हो) सर्वेषु जीवेषु स्वयं जीवनम् असि (सब जीवोंके तुम ही जीवन हो) सर्वग (हे सर्वव्यापी) त्वद्दर्शनं मे सर्वतः अस्तु (मुझे सर्व प्रकार तुम्हारा दर्शन हो) मम कर्मभिः तव एव पूजा अस्तु च (मेरे सब कर्मों द्वारा तुम्हारी पूजा हो)।

यतो वा प्रसृतं कर्म यतः परिसमाप्यते।
स वै विष्णुः स्वयं यज्ञः सकलं तस्य कर्म च ॥९५॥

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

यतः वा कर्म प्रसृतं (जिनसे सब कर्मोंकी उत्पत्ति होती है) यतः परि-समाप्यते (और जिनमें सब कर्म समाप्त होते हैं) स वै विष्णुः स्वयं यज्ञः (वे विष्णु ही स्वयं यज्ञ हैं) सकलं तस्य कर्म च [यज्ञः] (और उनका समुदय कर्म यज्ञस्वरूप है) ।

कायेन मनसा वाचा सकलैरिन्द्रियैरपि ।
यद् वै विधीयतेऽस्माभि : तत्रास्तु मखदर्शनम् ।।९६।।

कायेन मनसा वाचा (शरीर, मन और वाक्य द्वारा) सकलै इन्द्रियैः अपि (एवं सब इन्द्रियों द्वारा) यत् वै अस्माभिः विधीयते (जो कुछ हमसे किया जाता है) तत्र मखदर्शनम् अस्तु (उस सबमें हमें यज्ञदर्शन हो) अर्थात् हम शरीर, मन, वाणी एवं इन्द्रियोंके समस्त कर्म यज्ञ-ज्ञानसे कर सकें ।

ॐ यत्करोमि यदश्नामि यज्जुहोमि ददामि यत् ।
यत् तपस्यामि गोविन्द तत् करोमि त्वदर्पणम् ।।९७।।

यत् करोमि (मैं जो कुछ करता हूँ) यत् अश्नामि (जो कुछ खाता हूँ) यत् जुहोमि (जो कुछ आहुति देता हूँ) यत् ददामि (जो कुछ दान करता हूँ) यत् तपस्यामि (जो कुछ तपस्या करता हूँ) गोविन्द तत् त्वदर्पणम् करोमि (हे गोविन्द, वह सब तुम्हींको अर्पण करता हूँ) ।

ॐ यत् कृतं यत् करिष्यामि
तत् सर्वं ब्रह्मार्पणं भवतु स्वाहा ।।९८।।

—आहुति दो ।

(मैंने जो कुछ किया है और जो कुछ करूँगा वह सब परब्रह्मको समर्पित हो जाय—इस उद्देश्यसे यह आहुति देता हूँ) ।

ॐ यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते
येन जातानि जीवन्ति ।
यत् प्रयन्ति अभिसंविशन्ति
तस्मै परमात्मने जुहोमि स्वाहा ।।९९।।

—आहुति दो ।

यतः वा इमानि भूतानि जायन्ते (जिनसे निस्सन्देह सब भूतोंकी उत्पत्ति

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

होती है) येन जातानि जीवन्ति (जिनकी शक्ति से उत्पन्न होकर सब जीवित रहते हैं) यत् प्रयन्ति अभिसंविशन्ति (जिनमें लय होकर सब परम विश्रान्ति लाभ करते हैं) तस्मै परमात्मने जुहोमि स्वाहा (उन परब्रह्मको मैं आहुति देता हूं) ।

ॐ यस्मिन् सर्वे यतः सर्वे यः सर्वः सर्वतश्च यः ।
यश्च सर्वमयो देवः तस्मै परमात्मने जुहोमि स्वाहा ॥१००॥

यस्मिन् सर्वे (जिनमें सबकी स्थिति है) यतः सर्वे (जिनसे सबकीं उत्पत्ति है) यः सर्वः (जो सब हैं अर्थात् जिनके आश्रयसे सबका अस्तित्व है) यः सर्वतः च (एवं जो सर्वत्र हैं अर्थात् सबमें व्याप्त हैं) यः सर्वमयः देवः च (जो सर्वमय देवता है) तस्मै परमात्मने जुहोमि स्वाहा (उन परम ब्रह्मको आहुति देता हूँ) ।

यः पृथिव्यामप्सु अग्नौ वायौ आकाशे प्राणेषु
मनसि विज्ञानेऽन्तरिक्षे दिवि आदित्ये दिक्षु चंद्रे
तारासु तमसि तेजसि चक्षुषि श्रोत्रे त्वचि रेतसि
वाचि गुरौ पित्रोः बन्धुबान्धवादि-सर्वभूतेषु
तिष्ठन्नेतेषां सर्वेषां आत्माऽन्तर्यामी अमृतः,
तस्मै परमात्मने जुहोमि स्वाहा ॥१०१॥ —आहुति दो ।

यः पृथिव्याम् इत्यादि (जो पृथिवी, जल, वायु, अग्नि, आकाश, प्राण, मन, विज्ञान, अन्तरिक्ष, द्युलोक, आदित्य, दिशाएँ, चन्द्र, तारका, तम, तेज, चक्षु, कर्ण, त्वक्, रेत, वाक्, पितृगण, बन्धुबान्धवादि सब भूतोंमें) तिष्ठन् (अवस्थित हुए) एतेषां सर्वेषां अन्तर्यामी आत्मा (इन सबके अन्तर्यामी आत्मा हैं) अमृतः (एवं अविनाशी हैं) तस्मै परमात्मने जुहोमि स्वाहा (उन परमात्माको यह आहुति अर्पण करता हूँ) ।

य एकोऽवर्णो बहुधा शक्तियोगाद्
वर्णाननेकान् निहितार्थो दधाति ।
यमात्मस्थं अनुपश्यन्ति धीराः
तस्मै परमात्मने जुहोमि स्वाहा ॥१०२॥ —आहुति दो ।

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

यः एकः अवर्णः (जो अद्वितीय अरूप हैं) बहुधा शक्तियोगात् (नानाविध शक्तिके प्रभाव से) निहितार्थः (सब पदार्थोंमें अनुप्रविष्ट हुए) अनेकान् वर्णान् दधाति (विचित्र रूप प्रदान करते हैं) धीराः आत्मस्थं यम् अनुपश्यन्ति (समाहितचित्त मुनिगण जिनकी आत्मरूपमें उपलब्धि करते हैं) तस्मै परमात्मने जुहोमि स्वाहा (उन परमात्माकी तृप्तिके लिए मैं हवन करता हूँ)।

ॐ श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो मनो
यद् वाचो ह वाचम्।
स उ प्राणस्य प्राणः चक्षुषश्चक्षुः
तस्मै परमात्मने जुहोमि स्वाहा ॥१०३॥

—आहुति दो।

यत् श्रोत्रस्य श्रोत्रं (जो कानोंकी श्रवणशक्ति) मनसः मनः (मनकी मनन शक्ति) वाचः ह वाचम् (वागिन्द्रियकी भी वाक्शक्ति हैं) स उ प्राणस्य प्राणः (वे ही प्राणकी स्पन्दन शक्ति) चक्षुषः चक्षुः (नेत्रोंको दर्शन शक्ति हैं) तस्मै परमात्मने जुहोमि स्वाहा (उन्हीं परमात्माके निमित्त यह आहुति देता हूँ)।

[अन्तःकरणवृत्तिभिः] सर्ववेद्यं हव्यम्
इन्द्रियाणि स्रुचः, शक्तयो ज्वालाः,
स्वात्मा शिवः, पावकः स्वयमेव होता ॥१०४॥

(अन्तःकरणकी वृत्तियों द्वारा) जो कुछ भी मेरे ज्ञानका विषय हैं वह सब हवनीय द्रव्य है। सब इन्द्रियाँ उस हवनकी अर्पण (आहुति देनेके पात्र) हैं। प्राणादि शक्तियाँ उस यज्ञाग्निकी शिखाएँ हैं। मेरा आत्मा उस हवनकी मंगल अग्नि है और मैं स्वयं होता हूँ।

अन्तर्निरन्तरम् अनिन्धनमेधमाने
मोहान्धकार-परिपन्थिनि संविदग्नौ।
कस्मिंश्चिद् अद्भुत-मरीची-विकाश भूम्नि
विश्वं जुहोमि वसुधादि शिवावसानम् ॥१०५॥

—आहुति दो।

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

अन्तः (साधकके अन्तःकरणमें) अनिन्धनम् (ईंधन रहित होते हुए भी) निरन्तरम् एधमाने (सर्वदा जो अग्नि प्रज्वलित है) मोहान्धकारपरिपन्थनि (मोहरूप अन्धकारकी विनाशक) अद्‌भुत-मरीचि-विकाशभूम्नि (वह दिव्य किरण जिस भूमि या उत्ससे प्रसृत हो रही है अर्थात् मातृका चक्र विकसित) कस्मिंश्चित् संविदग्नौ (उसी लोकोत्तर संविद्‌रूप अग्निमें) वसुधादि शिवावसानम् विश्वं (पृथिवी तत्वसे लेकर शिवतत्व तक ३६ तत्वात्मक इस विश्व-प्रपंचकी) जुहोमि (मैं आहुति देता हूँ)। यह तंत्रशास्त्रका श्लोक है।

अर्थात् पृथिवी तत्त्वसे लेकर शिवतत्व तक जो ३६ तत्त्व हैं और उन तत्वोंसे रचा हुआ जो यह विश्व है उन सबको मैं संविद्‌रूप अग्निमें—विशुद्ध महाचैतन्यमें—आहुति देता हूँ। मोहान्धकार नाशक यह अलौकिक अग्नि निरन्तर हृदयमें वृद्धि प्राप्त कर रही है। जो शिवतत्वको ग्रास कर सकती है वह महान अग्नि तत्वातीत और अखण्ड प्रकाश है—इसमें सन्देह नहीं।

धर्माधर्म-हविः दीप्तावात्माग्नौ मनसा स्रुचा।
सुषुम्ना-वर्त्मना नित्यं अक्षवृत्तिः जुहोम्यहम् ॥१०६॥

—आहुति दो।

अहम् (मैं) धर्माधर्महविः (धर्म एवं अधर्म रूप हविको) दीप्तौ आत्माग्नौ (प्रज्वलित आत्मारूप अग्निमें) मनसा स्रुचा (मनोरूप स्रुक् अथवा होता द्वारा) सुषुम्नावर्त्मना (सुषुम्ना नाड़ी पथमें) नित्यम् (सर्वदा) अक्षवृत्तीः (चक्षुरादि इन्द्रियोंकी वृत्तियोंको) जुहोमि (आहुति देता हूँ)।

होमेन चेतनां जित्वा ध्यायेदात्मानम् आत्मना ॥१०७॥
द्वे आहुती जुहोत्येते अग्निहोत्रविधानतः।
ममतां प्रथमं हुत्वा अहन्ताञ्च जुहुयात्ततः ॥१०८॥

—आहुति दो।

(अर्थ—पूर्वोक्त हवन द्वारा चेतना अर्थात् द्वैत चेतना पर विजय प्राप्त कर मन द्वारा आत्माका ध्यान करना चाहिए। अग्निहोत्र विधान के अनुसार दो आहुति देनेका नियम है। पहले ममताकी आहुति देकर पीछे अहन्ताकी भी आहुति दे देनी चाहिए)।

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

इयं पृथिवी, इमा आपः, अयमग्निः, अयं वायुः, अयमाकाशः, अयमादित्यः, अयं चन्द्रः, इयं विद्युत, इमा दिशः, अयं धर्मः, इदं सत्यं, अयं मानुषः, इमानि भूतानि, अयमात्मा, सर्वेषां भूतानां मधु, एतेषां सर्वाणि भूतानि मधु, य एतेषु तेजोमयो अमृतमयः पुरुषः, स एवात्मा। अमृतं ब्रह्मेदं सर्वं। ॐ ब्रह्मणे स्वाहा ॥१०९॥

—आहुति दो।

(अहन्ता-ममता की आहुति देनेके फलस्वरूप साधक सर्वत्र एक ब्रह्मानुभूति लाभ करता है। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, सूर्य, चन्द्र, विद्युत, दिशा आदि सबमें मधु ब्रह्मका दर्शन करता है। तब स्वयं भी मधु और सब पदार्थ मधु दीखते हैं। सब मधुमय हो गया। यावत् प्रपञ्च सब पदार्थों में एक ही तेजोमय अमृतमय पुरुष हैं। वे ही आत्मा हैं, वे ही ब्रह्म हैं। उन्हींमें सब आहुति हैं)

(१७) व्यष्टि-समष्टि होम

अब साधक अपने व्यष्टि पंचकोशमें समष्टि पंचकोशको आहुति देकर विशिष्टाद्वैत तत्त्व आस्वाद करने की योग्यता लाभ करता है। अनुभव में आता है कि जगद्व्यापी एक देह है और उनमें देही परमात्मा अवस्थित हैं। अब भगवान और जीव-जगत् रूप उनकी देहको छोड़कर और कुछ अवशिष्ट नहीं रहा। इसके बाद समष्टि पंचकोश परस्पर ऊपरके कोशोंमें आहुत होकर एकमात्र ब्रह्म में पर्यवसित हो जाते हैं—'सर्व खल्विदं ब्रह्म'।

(प्रत्येक मन्त्रके बाद आहुति दो)

ॐ अन्नमयाय स्वाहा इदमन्नम्।

ॐ प्राणमयाय स्वाहा एष प्राणः।

ॐ मनोमयाय स्वाहा एतन्मनः।

ॐ विज्ञानमयाय स्वाहा एतद् विज्ञानम्।

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

ॐ आनन्दमयाय स्वाहा एष आनन्दः ।
ॐ परमात्मने स्वाहा एष आत्मा ॥११०॥
ॐ अन्नमयं प्राणमयाय जुहोमि स्वाहा ।
ॐ प्राणमयं मनोमयाय जुहोमि स्वाहा ।
ॐ मनोमयं विज्ञानमयाय जुहोमि स्वाहा ।
ॐ विज्ञानमयं आनन्दमयाय जुहोमि स्वाहा ।
ॐ आनन्दमयं परमात्मने जुहोमि स्वाहा ।
ॐ सर्वं खल्विदं ब्रह्म ॥१११॥

(नीचेके कोशोंको ऊपरके कोशोंमें क्रमशः आहुति देने पर अनुभवमें आता है 'सर्व खल्विदं ब्रह्म' अर्थात् दृश्य जगत सब ब्रह्म ही है)

ॐ अमृतोपस्तरणमसि स्वाहा ।
ॐ अमृतापिधानमसि स्वाहा ।
ॐ ब्रह्मणे स्वाहा ॥११२॥

—आहुति दो ।

(अर्थ—हे अमृत, तुम निम्न आवरण स्वरूप हो, तुमको आहुति देता हूँ । हे अमृत, तुम उपरितम आवरण स्वरूप हो, तुमको आहुति देता हूँ । सब ब्रह्म ही है, इसलिए ब्रह्ममें आहुति देता हूँ) ।

(१८) केवलात्मक यज्ञ

केवलात्मक यज्ञमें ध्याता ध्येयमें समाहित हो जानेके कारण ध्येय तत्त्वका कुछ विलास अनुभूत होता है । यह अद्वैत सिद्धिकी परकालीन अवस्था है अर्थात् अद्वैतका 'लीलार्थ कल्पित द्वैतरूप' (लीलार्थं कल्पितं द्वैतं अद्वैतादपि सुन्दरम्) । द्रव्यात्मक यज्ञमें साधारणतः द्वैतभाव रहता है, भावनात्मक यज्ञमें अद्वैत भावकी सिद्धि होती है और केवलात्मक यज्ञमें अद्वैतका लीला-विलासरूप अनुभूत होता है । इस अवस्थामें मानुष, पशु, पक्षी, आदि समस्त जगत लीलामें सहायक, आनन्दका वर्धक, मधुर ही मधुर दीखता है । इस अवस्था संगीत है—'मधुराधिपतेरखिलं मधुरम्'

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

(प्रत्येक मंत्रके बाद आहुति दो)

ॐ ब्रह्मार्पणं ब्रह्महविः ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम् ।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना ॥
ॐ ब्रह्मणे स्वाहा ॥११३॥
ॐ सर्वं खल्विदं ब्रह्म । ॐ ब्रह्मणे स्वाहा ॥११४॥

अर्पणं ब्रह्म (अर्पण यन्त्र ब्रह्म है) हविः ब्रह्म (अर्पणके द्रव्य घृतादि भी ब्रह्म हैं) ब्रह्माग्नौ (जिस अग्निमें हवन किया जा रहा है वह भी ब्रह्म है) ब्रह्मणा हुतम् (हवन करनेवाला भी ब्रह्म है) ब्रह्मकर्मसमाधिना तेन (इस ब्रह्मयज्ञ अनुष्ठानकारी द्वारा) ब्रह्म एव गन्तव्यम् (जो लाभ होगा वह भी ब्रह्म ही है)। इस प्रकार जीवकी व्यष्टि चेतना एवं अनुभव समष्टि अर्थात् जीवका जगद्-व्यवहार तुच्छ वस्तु नहीं हैं। ये परिच्छन्न होते हुए भी चैतन्य उपादानमें ही गठित हैं। इनको एकीभूत करके समष्टिचैतन्य समुद्रमें निमज्जित कर देनेसे जीवयज्ञकी पूर्णाहुति हो जाती है।

ॐ अहं ते मधु, त्वं मे मधु;
ॐ तुभ्यं स्वाहा, ॐ मह्यं स्वाहा।
ॐ प्रियाय प्राणाय स्वाहा ।
ॐ आत्मने परमात्मने स्वाहा ।
ॐ प्रियाय प्रियतमाय प्राणाय परमात्मने स्वाहा ॥११५॥

अहं ते मधु (मैं भी तुम्हारे लिये मधुर हूँ) त्वं मे मधु (तुम भी मेरे लिये मधुर हो) तुभ्यं स्वाहा मह्यं स्वाहा (तुम्हें भी आहुति देता हूँ, अपनेको भी आहुति देता हूँ)। प्रियाय प्राणाय स्वाहा (प्राणस्वरूप प्रियको आहुति देता हूँ)। आत्मने परमात्मने स्वाहा (आत्मा और परमात्मा अभिन्न हैं—उनको भी आहुति देता हूँ)। प्रियाय प्रियतमाय प्राणाय परमात्मने स्वाहा (परमात्मा ही प्रिय, प्रियतम एवं प्राण हैं—उन्हें आहुति देता हूँ)।

इसमें दो भाव निहित हैं—(१) अग्निकी सहायता से आत्माको तृप्त करना, आत्माको सुखी करना, आत्मा का उद्देश्य सिद्ध करनेकी चेष्टा करना। बादको आत्मा द्वारा अपनेको, अपने आत्माको आप्यायित करना।

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal.

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

(२) आत्माके विषयमें गलत धारणा और संस्कार दूरकर आत्माका प्रकृत स्वरूप अवधारण करना ।

ॐ मधुवाता ऋतायते, मधु क्षरन्ति सिन्धवः
माध्वीर्नः सन्त्वोषधीः ।
ॐ मधु नक्तमुतोषसो, मधुमत् पार्थिवं रजः
मधु द्यौरस्तु नः पिता ।
ॐ मधुमान्नो वनस्पतिः, मधुमानस्तु सूर्यः
माध्वीर्गावो भवन्तु नः ।
ॐ मधु ॐ मधु ॐ मधु ॥ ११६ ॥

वाता मधु ऋतायते (वायु सब ऋतुओंमें मधु वहन करे) सिन्धवः मधु क्षरन्ति (सब नदियाँ मधु क्षरण करें) न ओषधीः माध्वीः सन्तु (हमारे ओषधि वृक्ष मधुमय हों) मधु नक्तम् उतोषसः (रात्रि और प्रभात मधुमय हों) पार्थिवं रजः मधुमत् (पृथिवीके रजकण सब मधुमय हों) द्यौः मधु अस्तु (अन्तरिक्ष या आकाश मधुमय हो) नः पिता (हमारे पितृलोक मधुमय हों) नः वनस्पतिः मधुमान (हमारी वनस्पतियाँ मधुमय हों) सूर्यः मधुमान् अस्तु (सूर्यदेव मधुमय हो) नः गावः माध्वीः भवन्तु (हमारी गोमाताएँ मधुमय हों) ॐ मधु ॐ मधु ॐ मधु (सर्वत्र मधु, सब मधु, केवल मधु ही मधु हो) ।

इस समय साधककी सब इन्द्रियाँ पूर्णताको प्राप्त हो जाती हैं और वह स्वयं पूर्ण होकर पूर्णस्वरूपकी पूर्णतः आस्वाद करनेकी योग्यता लाभ करता है । तब अनुभव में आता है कि सब कुछ भगवानसे ही आता है और भगवानमें ही जाकर लीन हो जाता है । भूत-भविष्य-वर्तमानके सब कर्म भगवानकी लीला हैं; मेरा पृथक अस्तित्व कुछ भी नहीं है, यह तत्त्व पूर्णतः अनुभवमें आजानेपर साधककी सब आहुतियाँ पूर्णताको प्राप्त हो जाती हैं । अन्तमें शिवावसान सब इदं-तत्त्व शिवमें आहुत होकर एक पूर्णाहन्ता शिवतत्त्व बाकी रह जाता है ।

(एक पान, एक सुपारी और एक केला या और कोई साबुत फल घी लगाकर हाथमें लो और खड़े होकर यह श्लोक पढ़ो) ।

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

त्वं पूर्णोऽसि तव विश्वमिदं च पूर्णं
पूर्णस्तावकविधिः यमनुप्रयान्ति ।
ब्रह्माद्या दिविषदो भुवनेश तुभ्यं
दत्तं मेऽन्तिम् हविः मयि पूर्णतापत्यै ।। ११७ ।।

त्वं पूर्णः असि (तुम पूर्णस्वरूप हो) इदं तव विश्वं च पूर्ण (तुम्हारा यह विश्व भी पूर्ण है) तावकविधिः पूर्णः (तुम्हारा विधान भी पूर्ण है) यं ब्राह्माद्याः दिविषदः अनुप्रयान्ति (जिस विधानका ब्रह्मादि देवता भी पालन करते हैं) भुवनेश (हे अखिल भुवनके अधिति) मयि पूर्णतापत्यै (अपनी पूर्णताके लिए) मे अन्तिम् हवि (मेरी यह अन्तिम आहुति) तुभ्यं दत्तं (तुमको अर्पण करता हूँ) ।

इदं मे हवनं कर्म तुभ्यमस्तु समर्पितम् ।
तर्पिताः सन्तु जीवाश्च त्वदिच्छा पूर्णतामियात् ।। ११८ ।।

इदं मे हवनं कर्म (मेरा यह हवन कर्म) तुभ्यं समर्पितम् अस्तु (तुमको समर्पित हो) जीवाः च तर्पिताः सन्तु (इसके द्वारा तुम्हारे सब जीवोंकी तृप्ति हो) त्वदिच्छा पूर्णताम् इयात् (तुम्हारी इच्छा पूर्ण हो ।)

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ।। ११९ ।।

पूर्णम् अदः (परमात्मा पूर्ण हैं) पूर्णम् इदं (यह विश्व-संसार भी पूर्ण है) पूर्णात् पूर्णम् उदच्यते (पूर्ण ब्रह्मसे ही पूर्ण विश्व-ब्रह्माण्ड उद्भूत हुआ है) पूर्णस्य पूर्ण आदाय (पूर्णमें से पूर्ण ग्रहण कर) पूर्ण एव अवशिष्यते (पूर्ण ही अवशिष्ट रहता है अर्थात् पूर्णकी कोई हानि नहीं होती ।)

इन्द्रिय, मन एवं बुद्धिके अगम्य परमात्मसत्ता अपने द्वारा अपनेमें परिपुर्ण है । परमात्म उपादानसे इस दृश्य विश्वकी सृष्टि हुई है, इसलिए यह विश्व अथवा विश्ववासी जीव भी पूर्ण हैं—पूर्णता प्राप्त करनेके सम्पूर्ण अधिकारी हैं । यह पूर्ण ब्रह्म अपने उपादानसे विश्व सृजन करके भी अपनी अंगहानि रूप दोष या विकारसे विकृत नहीं हुए । कारण, पूर्णतासे कुछ भी लेनेसे उस सत्ताकी

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

पूर्णताका ह्रास नहीं होता। जागतिक वस्तुमें इस प्रकारका दोष दृष्ट होता है लेकिन परमात्म तत्त्वका वैशिष्ट्य यही है कि वह इस दोषसे चिरनिर्मुक्त हैं।

ॐ इतः पूर्वं प्राण-बुद्धि-देह धर्माधिकारतो,
जाग्रत्-स्वप्न-प्रसुप्त्यवस्थासु,
मनसा वाचा हस्ताभ्यां पद्भ्यामुदरेण शिश्ना,
यद् यत् स्मृतं यदुक्तं यत् कृतं तत् सर्वं,
ॐ ब्रह्मार्पणं भवतु स्वाहा ॥१२०॥

इतः पूर्वं (इससे पूर्व कालमें अथवा पूर्व जन्मोंमें) प्राण-बुद्धि-देह-धर्माधिकारतः (प्राण-बुद्धि-देह और धर्मके अधिकारानुसार) जाग्रत्-स्वप्न-प्रसुप्त्यवस्थासु (जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति अवस्थामें) मनसा वाचा हस्ताभ्यां पद्भ्यामुदरेण शिश्ना (मन, वाणी, हस्त, पद, उदर एवं शिश्न द्वारा) यद् यत् स्मृतं (जो किया गया हो) तत् सर्वं (वह सब) ब्रह्मार्पणं भवतु स्वाहा (ब्रह्मको समर्पित हो जाय)।

ॐ मां मदीयं सकलं सम्यक्
ॐ परब्रह्मणे जुहोमि स्वाहाः ॥१२१॥

(मैं अपने-आपको और मेरा कहकर जो कुछ है उस सबको परब्रह्मको समर्पण करता हूँ)।

ॐ ब्रह्मार्पणं ब्रह्महविः ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्म-समाधिना।
ॐ परमात्मने स्वाहा ॥१२२॥

—फलादि की शेष आहुती दो।

(२०) वैगुण्य दूरीकरण

साधक जितना भी उन्नत क्यों न हो लेकिन उसे अपने अनुष्ठानमें अपूर्णता ही दीखती हैं। वस्तुतः पूर्णस्वरूप भगवान्का कार्यही पूर्ण हो सकता है; जीवके कार्यमें दोष-त्रुटि रहती ही है। इसलिए सब अनुष्ठानों के अन्तमें वैगुण्य दूर करनेकी

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

व्यवस्था है। भगवान्के नामसे सब वैगुण्य दूर हो जाते हैं और अपूर्णता पूर्ण हो जाती है।

ॐ कृतेऽस्मिन् हवनकर्मणि यद् वैगुण्यं जातं
तद्दोषप्रशमनाय श्रीविष्णोः स्मरणमहं करिष्ये ।
ॐ तद् विष्णोः परमं पदं, सदा पश्यन्ति सूरयः,
दिवीव चक्षुराततम् ।
ॐ विष्णु ॐ विष्णु ॐ विष्णु ॥१२३॥

अस्मिन् हवनकर्मणि कृते (मेरे इस हवन कर्ममें) यत् वैगुण्यं जातं (जो त्रुटि हुई हो) तद्दोषप्रशमनाय (उस दोषकी उपशान्तिके लिए) अहं श्रीविष्णोः स्मरणं करिष्ए (मैं विष्णु भगवानको स्मरण करता हूँ) ।

ॐ मंत्रहीनं क्रियाहीनं भक्तिहीनं जनार्दन ।
यत् पूजितं मया देव परिपूर्णं तदस्तु मे ॥१२४॥

(हे जनार्दन, मैं मंत्रहीन, क्रियाहीन, भक्तिहीन हूँ। तुम्हारी कृपासे तुम्हारी जो कुछ पूजा मेरे द्वारा हुई है इसे तुम परिपूर्ण कर दो।

(२१) आरति

आरतीके उपादान पंचतत्त्वके प्रतीक हैं। पृथिवीका गुण है गन्ध, उसका प्रतीक है धूप। अप् तत्त्वका गुण है रस, उसका प्रतीक है पाद्य (जल)। तेज तत्त्वका गुण है रूप, उसका प्रतीक है दीप। वायु तत्त्वका गुण है स्पर्श, उसका प्रतीक है चँवर या कपड़ेसे हवा करना। आकाश तत्त्वका गुण है शब्द, उसका प्रतीक है शंख और घण्टे की ध्वनि। पंचतन्मात्र (पंचतत्त्व) के सात्विक अंशसे मन-वुद्धि-चित्त-अहंकारकी, राजसिक अंशसे पंचप्राणकी और तामसिक अंशसे पञ्चमहाभूतकी उत्पत्ति हुई है। आरतिके द्वारा अपने सब तत्त्वोंको भगवानको निवेदन करनेकी व्यवस्था है। अनुभव करना चाहिए कि हमारे पास जो कुछ है वह सब उन्हींका है, उनकी लीलाके उपयोगी बनानेके लिए है। 'आ' मर्यादा और अभिविधिका द्योतक है, 'रति' का अर्थ है परम मिलन, परम सौमनस्यकी

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

उपलब्धि। अर्थात् पहले द्वैत भावमें मर्यादा सहित ध्यान करते-करते उनके साथ अभेद भावकी उपलब्धि 'रति' में पर्यवसित हो जाती है—पूर्णता लाभ करती है। आरति हवनकी शेष क्रिया है, उनके साथ पूर्ण रूपेन एकता-बोधकी वाचक है।

ॐ जय जगदीश हरे, स्वामी जय जगदीश हरे।
भक्त जननके संकट छिनमें दूर करे ॥ १ ॥ ॐ जय.... ।
जो ध्यावे फल पावे दुख विनशे मनका।
सुख सम्पत्ति घर आवे कष्ट मिटे तनका ॥ २ ॥ ॐ जय.... ।
मात-पिता तुम मेरे शरण गहूं किसकी।
तुम बिन और न दूजा आस करूं जिसकी ॥ ३ ॥ ॐ.... ।
तुम पूरण परमात्मा तुम अन्तर्यामी।
पार ब्रह्म परमेश्वर तुम सबके स्वामी ॥ ४ ॥ ॐजय.... ।
तुम करुणा के सागर तुम पालन कर्त्ता।
मैं मूरख खल कामी कृपा करो भर्ता ॥ ५ ॥ ॐजय.... ।
तुम हो एक अगोचर सबके प्राणपति।
किस विधि मिलूं गुसाँई तुमको मैं कुमति ॥ ६ ॥ ॐजय.... ।
दीनबन्धु दुखहर्ता रक्षक तुम मेरे।
अपने हाथ उठाओ द्वार पड़ा तेरे ॥ ७ ॥ ॐजय.... ।
विषय विकार मिटाओ पाप हरो देवा।
श्रद्धा भक्ति बढ़ाओ सब सन्तन की सेवा ॥ ८ ॥ ॐजय.... ।

(२२) अंजलि

(बेलपत्र, फूल, दूब, चावल लेकर यह श्लोक पाठ करके अंजलि दो)।

खं वायुमग्निं सलिलं महीं च,
ज्योतींषि सत्त्वानि दिशो द्रुमादीन्।
सरित्समुद्रांश्च हरेः शरीरं
यत् किंच भूतं प्रणमाम्यनन्यः ॥१२५॥
एष सचन्दन पुष्पांजलिः ॐ आकाशाद्यात्मने
यज्ञेश्वराय श्री विष्णवे नमः ॥१२६॥

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

पुष्प सद्गुणोंके प्रतीक है। त्रिबेलपत्र तीन गुणोंके—आध्यात्मिक, आधिदैविक, आधिभौतिक तत्त्वोंके प्रतीक हैं। अंजलिके द्वारा हम अपने सब गुण, सब तत्त्व और सब क्रियाएँ भगवान्को अर्पण कर देते हैं। अनुभव होता है कि ये सब उन्हींकी विभूति, उन्हींका प्रकाश हैं। अब हमारा कहकर अहँकार करनेको कुछ बाकी नहीं रहा। तब अनुभव में आता है कि कर्त्ता-कर्म-करण, भोक्ता-भोग्य-भोजन, द्रष्टा-दृश्य-दर्शन, सब वे ही हैं, त्रिपुटी-भाव दूर हो जाता है और 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' भावका स्फुरण होता है।

(२३) प्रणाम

सर्वत्र ब्रह्मानुभूति होने पर साधकका मस्तक अपने-आप नत हो जाता है। प्रणाम करना साधारण बात नहीं है। प्रणाम सार्थक तभी हो सकता है जब प्रणम्यके विधानके आगे हम अपने सब नियम, इच्छा, ख्यालको विसर्जन करनेके लिए दृढ़प्रतिज्ञ हो जायँ।

ॐ अग्नेय नमः । ॐ ब्रह्मतेजसे नमः ।
ॐ जातवेदसे नमः । ॐ परमात्मने नमः ।।१२७।।
ॐ यो देवोऽग्नौ योऽप्सु यो विश्व भुवनमाविवेश ।
य ओषधिषु यो वनस्पतिषु तस्मै देवाय नमो नमः ।।११८।।
ॐ यज्ञेश्वराय श्रीविष्णवे नमः ।।१२९।।

यः देवः अग्नौ (जो देवता अग्निमें हैं) यः अप्सु (जो जलमें हैं) यः विश्वं भुवनमाविवेश (जो विश्वभुवनको आवेष्टन किये हुए हैं) यः ओषधिषु यः वनस्पतिषु (जो ओषधि और वनस्पतिमें विराजमान हैं) तस्मै देवाय नमः नमः (उन देवताको बारम्बार नमस्कार)।

ॐ या देवी सर्वभूतेषु, मातृरूपेण संस्थिता ।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै, नमस्तस्यै नमो नमः ।।
ॐ या देवी सर्वभूतेषु, शक्तिरूपेण संस्थिता ।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै, नमस्तस्यै नमो नमः ।।

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

ॐ या देवी सर्वभूतेषु, विद्यारूपेण संस्थिता।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै, नमस्तस्यै नमो नमः॥
ॐ या देवी सर्वभूतेषु, कान्तिरूपेण संस्थिता।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै, नमस्तस्यै नमो नमः॥
ॐ या देवी सर्वभूतेषु, शान्तिरूपेण संस्थिता।
नमस्तस्यै ननस्तस्यै, नमस्तस्यै नमो नमः॥१३०॥

या देवी सर्वभूतेषु (जो देवी सब भूतोंमें) मातृ, शक्ति, विद्या, कान्ति, शान्तिरूपेण संस्थिता (मातृ, शक्ति, विद्या, कान्ति, शान्तिरूपमें विराजमान हैं) तस्यै नमः (उनको बार-बार नमस्कार करता हूं)

शरणागत-दीनार्त्त-परित्राण-परायणे ।
सर्वस्यार्तिहरे देवि नारायणि नमोऽस्तु ते ॥१३१॥

(हे शरणागत—दीन—दुखीको परित्राण करने वाली, हे सर्वजीवकी दुखहारिणी, हे देवी नारायणी, तुमको नमस्कार करता हूं)।

सर्वमंगलमांगल्ये शिवे सर्वार्थसाधिके।
शरण्ये त्र्यम्बके गौरि नारायणि नमोऽस्तुते ॥१३२॥

(हे सर्वमंगल तथा मंगलके उपाय,स्वरूपिणी, हे कल्याणदात्री, हे सर्वार्थसाधिके, हे रक्षक, हे त्रिनयने, हे गोरी, हे नारायणी, तुमको नमस्कार हो)।

सर्वस्वरूपे सर्वेशे सर्वशक्तिसमन्विते।
भयेभ्यस्त्राहि नो देवि दुर्गे देवि नमोऽस्तु ते ॥१३३॥

(हे विश्वरूपे, हे सर्वेश्वरी, हे सर्वशक्तिसम्पन्ने, हे देवी; सब प्रकारके भयसे हमारी रक्षा करो। हे दुर्गे देवी तुमको नमस्कार हो)।

सर्वरूपमयी देवी, सर्वं देवीमयं जगत्।
अतोऽहं विश्वरूपां तां नमामि परमेश्वरीम् ॥१३४॥

(देवी सर्वरूपमयी हैं, समस्त जगत देवीमय है। अतएव मैं उन विश्वरूपा परमेश्वरी देवीको नमस्कार करता हूं)।

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

(२४) अग्नि निर्वापण

अग्नि निर्वापण तत्त्वमें अनुभव करना चाहिए कि अग्निदेवने आकर हमारी दुरवस्था देखी, हमारा सब निवेदन सुना। वे अवश्य हमारे सब अभाव दूर करेंगे और हमें शान्ति दान करेंगे। यह विश्वास जब दृढ़ हो गया तो पृथिवीके जीवोंको कहा गया कि तुम लोग शान्तिसे रहो—अब तुम लोगोंको दुःख-शोक करनेका कोई कारण नहीं।

हे अग्नि, अब तुम कारणार्णवमें स्वधाममें जाकर स्वमहिमामें अवस्थान करो।

पृथ्वि त्वं शीतला भव ॥१३५॥

—दही डालकर अग्नि निर्वापण करो।

(हे पृथिवी, तुम शीतल हो जाओ)।

मालिन्यं सर्वजगतां नष्टं चित्तं च साम्प्रतम् ।
भगवद्भावसंयुक्तं भाति शान्तो भवानल ॥१३६॥

साम्प्रतं सर्वजगतां मालिन्यं नष्टं (अब सब जगतकी मलिनता नष्ट हो गयी) चित्तं च भगवद्भावसंयुक्तम् भाति (मेरा चित्त भगवद्भावसे परिभावित हो गया) अनल शान्तः भव (हे अग्नि, अब तुम शान्त हो जाओ)।

येनासि प्रार्थितोऽस्माभिः समाप्तं यज्ञकर्म तत् ।
धन्याः स्मः कृतकृत्याः स्मो विज्ञाय विभवं तव ॥१३७॥

येन अस्माभिः प्रार्थितः असि (जिस निमित्त हमने तुम्हारा आवाहन किया था) तत् यज्ञकर्म समाप्तं (वह यज्ञकर्म तुम्हारी कृपा से सकुशल समाप्त हो गया) तव विभवं विज्ञाय (तुम्हारी विभूति उपलब्धकर) धन्याः स्मः कृतकृत्याः स्मः (हम धन्य हो गये, कृतकृत्य हो गये—हमारा जीवन सफल हो गया)।

अग्ने त्वं समुद्रं गच्छ ॥१३८॥

(हे अग्नि, अब तुम कारण-सलिल रूप समुद्रमें, अपने स्वधाममें जाकर निवास करो)।

—पानी डालकर अग्नि निर्वापण करो।

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

आशिषो नः । दीयन्तां याभिः स्मो वीरवत्तमाः ।
प्रयाहि भास्वरं धाम द्योतमानं स्वतेजसा ॥१३९॥

नः आशिषः प्रदीयन्तां (हमको आशीर्वाद किये जाओ) याभिः वीरवत्तमाः स्मः (जिससे हम वीरश्रेष्ठ हों) स्वतेजसा द्योतमानं (तुम अपने तेजसे उद्भासित) भास्वरं धाम प्रयाहि (ज्योतिर्मय धामको पधारो) ।

(२५) शान्ति

शान्ति-मन्त्रोंमें दिखाया गया है कि हम किस प्रकार शान्तिसे रह सकते हैं । हमारे मनमें, परिवारमें, समाजमें, यहाँ तक कि समस्त जगतमें किस प्रकार शान्ति स्थापित की जा सकती है, इसका उपाय निर्देश किया गया है । सबकी शान्तिमें ही हमारी शान्ति है—यह समझते हुए समष्टिकी शान्तिके लिए यहां प्रार्थना की गयी है । हम किसीके दोष न देखें, सबको अपना मानते हुए सब की शान्तिके लिए चेष्टा करें, सबके सुखके लिए समवेतरूपसे प्रार्थना करें ।

इस शान्ति-स्थापनका प्रधान उपाय है—एकतास्थापन । सबको अपने समान देखना, अपना मानना, अपने आत्माकी विभूति समझना । सबके सुखमें हमारा सुख है, सबके ऐश्वर्यमें हमारा ऐश्वर्य, सबकी उन्नतिमें हमारी उन्नति, सबके कल्याणमें हमारा कल्याण है—यह भाव बद्धमूल करानेकी व्यवस्था की गयी है ।

(बेल पत्रसे शान्ति जल छिड़कते हुए ये मंत्र पाठ करो)

ॐ द्यौः शान्तिः, अन्तरिक्षं शान्तिः, पृथिवी शान्तिः, आपः शान्तिः, ओषधयः शान्तिः, वनस्पतयः शान्तिः, विश्वेदेवाः शान्तिः, ब्रह्म शान्तिः, सर्वं शान्तिः, सर्वरोगः शान्तिः, सर्वापच्छान्तिः, शान्तिरेव शान्तिः । सा मे शान्तिरेधि । (इसका अर्थ स्पष्ट हैं)

ॐ शान्तिः ॐ शान्तिः ॐ शान्तिः ॥१४०॥
ॐ विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव,
यद् भद्रं तन्न आसुव १४१ ॥

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

देव सवितः (हे सवितृदेव) विश्वानि दुरितानी परासुव (सब प्रकार के अशुभ-पाप हरण करो) यत् भद्रं (जो शुभ, कल्याणप्रद हो) नः तत् आसुव (वही हमारे पास आवे) ।

ॐ भद्रं कर्णेभिः श्रुणयामि, भद्रं चक्षुभिरवलोकयाम ।
भद्रं मनोभिश्चिन्तयाम, भद्रं बाहुभिः साधयाम ॥१४२॥

(हम कानों से मंगल वाणी सुनें, आँखों से मंगल दृश्य देखें, मन से शुभ-चिन्तन करें, हाथों से शुभ कर्म करें) ।

सर्वेऽत्रसुखिनः सन्तु, सर्वे सन्तु निरामयाः ।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु, मा कश्चित् दुःखमाप्नुयात् ॥१४३॥

अत्र सर्वे सुखिनः सन्तु (इस जगत में सब सुखी हों) सर्वे निरामयाः सन्तु (सब निरामय हों) सर्वे भद्राणि पश्यन्तु (सब मंगलमय दृश्य देखें) कश्चित् दुखं मा आप्नुयात् (किसी को दुःख न प्राप्त हो) ।

सर्वस्तरतु दुर्गाणि, सर्वो भद्राणि पश्यतु ।
सर्वः सद्बुद्धिमाप्नोतु सर्वः सर्वत्र नन्दतु ॥१४४॥

सर्वः तरतु दुर्गाणि (सब विपद से पार हो जाएँ) सर्वः भद्राणि पश्यतु (सब मंगल दर्शन करें) सर्वः सद्बुद्धिम् आप्नोतु (सबको सद्बुद्धि प्राप्त हो) सर्वः सर्वत्र नन्दतु (सब सर्वत्र आनन्द करें) ।

दुर्जनः सज्जनो भूयात्, सज्जनः शान्तिमाप्नुयात् ।
शान्तो मुच्येत बन्धेभ्यो, मुक्तश्चान्यान् विमोचयेत् ॥१४५॥

दुर्जनः सज्जनो भूयात् (दुर्जन सज्जन हो जाय) सज्जनः शान्तिम् आप्नुयात् (सज्जन शान्ति लाभ करे) शान्तः बन्धेभ्यः मुच्येत (शान्त व्यक्ति बन्धन से मुक्त हो जाय) मुक्तः च अन्यान् विमोचयेत (और मुक्त व्यक्ति दूसरों को बन्धनमुक्त करावें) ।

स्वस्ति प्रजाभ्यः परिपालयन्तां,
न्याय्येन मार्गेण महीं महीशाः ।
गो-ब्राह्मणेभ्यः शुभमस्तु नित्यं,
लोकाः समस्ताः सुखिनो भवन्तु ॥१४६॥

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

स्वस्ति प्रजाभ्यः (प्रजागण का मंगल हो) महीशाः (राजा लोग) न्याय्येन मार्गेण (न्याय के मार्ग से) महीं परिपालयन्ताम् (पृथिवीका परिपालन करें) गो-ब्राह्मणेभ्यः नित्यं शुभम् अस्तु (गो एवं ब्राह्मणों का नियत कल्याण हो) समस्ताः लोकाः सुखिनः भवन्तु (सब लोग सुखी रहें)।

काले वर्षतु पर्ज्जन्यः पृथिवी शस्यशालिनी।

देशोऽयं क्षोभरहितो, ब्राह्मणा सन्तु निर्भयाः ॥१४७॥

काले वर्षतु पर्जन्यः (यथासमय वर्षा हो) पृथिवी शस्यशालिनी (पृथिवी खूब अन्न पैदा करे) अयं देशः क्षोभरहितः (हमारा यह देश क्षोभरहित हो अर्थात् दुःख-कष्ट-अशान्ति से दूर रहे) ब्राह्मणाः निर्भयाः सन्तु (ब्राह्मण लोग शँका शून्य हों)।

अपुत्राः पुत्रिणः सन्तु, पुत्रिणः सन्तु पौत्रिण।

अधनाः सधनाः सन्तु, जीवन्तु शरदां शतम् ॥१४८॥

(अपुत्र व्यक्ति पुत्र लाभ करे, पुत्रवान् को पौत्र हो, निर्धन व्यक्ति धन-लाभ करें और सब सौ वर्ष तक जीवित रहें)।

(२६) तिलक धारण

तिलक धारण करने का मतलब है प्रतिज्ञाबद्ध होना कि हम यज्ञ के सार तत्त्व को हृदयमें धारण करके रखेंगे अर्थात् अपने जीवनको उसी आदर्शके अनुसार गठन करेंगे। तिलक लगाते समय आशीर्वाद किया जाता है कि ऋषियों के समान तुम आयु, ज्ञान, अनुभूति और शान्ति लाभ करो।

ऋषीणां कश्यपादीनां यद् वै तेजः स्मृति धृतिः।

सत्यस्य धारणी प्रज्ञा यदायुष्यं तदस्तु ते ॥१४९॥

अर्थ—कश्यपादि ऋषियों की जैसी स्मृति, धृति, तेज, सत्य को धारण करने की प्रज्ञा एवं आयु थी, तुम्हारी भी वैसी ही हो।

(हवनकुण्डमेंसे थोड़ी-सी भस्म निकालकर घी मिलाकर तिलक बना लो)।

ॐ **कश्यपस्य त्र्यायुषम्** ।........माथे पर तिलक लगाओ।

ॐ **जमदग्नेः त्र्यायुषम्** ।........कंठ में ,, ,, ।

ॐ **यद् देवानां त्र्यायुषम्** ।.... बाहु में ,, ,, ।

ॐ **तन्नोऽस्तु त्र्यायुषम्** ॥१५०॥ हृदय में ,, ,, ।

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

अर्थ—जैसे कश्यप ऋषि, जमदग्नि मुनि और देवताओंकी तीन वयोवस्था थीं (बाल्य, कौमार एवं यौवन) तुम्हारी भी वैसी ही हों। अर्थात् पूर्ण परिणति लाभ करो—अकाल मृत्यु न हो।

(२७) इड़ा और सोम-भक्षण

इड़ा और सोम भक्षणसे हम यज्ञेश्वर देवताका सादृश्य लाभ करने की योग्यता अर्जन करते हैं। इड़ा-भक्षणसे देवताके समान स्थूल शरीर और सोम-भक्षणसे देवता के समान सूक्ष्म देह लाभकर देवत्व में प्रतिष्ठित हो जाते हैं। तब हमारे भीतर पूर्णता—एकता स्थापित हो जाती है। भगवान् ईसा का वचन 'He that eateth my flesh and drinketh my blood dwelleth in me and I in him', यही रहस्य प्रकाश करता है।

ॐ अपाम सोमममृता अभूम।
आगन्म ज्योतिरविदाम देवान् ॥१५१॥

सोमम् अपाम (सोमको पान कर सकूं) अमृता अभूम (सोम पान करके मृत्यु पर विजय प्राप्त करूँगा) ज्योतिः आगन्म (ज्योतिर्मय स्वर्गको प्राप्त होऊँ) देवान् अविदाम (दीप्यमान देवतत्त्वको मैंने जान लिया)।

ॐ संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम्।
देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते ॥१५२॥

(तुम सब मिलके चलो; तुम्हारी वाणी एक प्रकार हो; तुम्हारे मन परस्पर एकमत हों, सब देवता लोग मिलके यज्ञभाग ग्रहण कर रहे हैं)।

समानो मंत्रः समितिः समानी।
समानं मनः सह चित्तमेषाम् ॥
समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति ॥१५३॥

तुम्हारे मंत्रोच्चारण एक सुरमें हों, तु म सब एक गोष्ठीमें मिलके रहो, तुम्हारे मन-चित्त सब एक प्रकार हों। तुम्हारे उद्देश्य एक हो, अन्तःकरण एक हो, मन एक हो, तुम सम्पूर्णतः एक मत हो)।

॥ समाप्त ॥

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

परिशिष्ट

[श्रीमत् स्वामीजीके एकनिष्ठ भक्त एवं जीवनीके लेखक श्रद्धेय श्री यतीन्द्र मोहन चट्टुपाध्यायके 'यज्ञेर काल' शीर्षक लेखमेंसे उद्घृत]

(१) दैनिक

प्रातः यज्ञ करनेसे सायंकाल ही उसका फल मिल जाता है। सायंकाल यज्ञ करनेसे दूसरे दिन प्रातः ही फल प्राप्त होता है। यह फल है सौमनस् (आनन्द)। इसीलिए ऋषिगण प्रातः और सायं यज्ञानुष्ठान करना प्रशस्त मानते थे।

(क) प्रातः प्रातः गृहपतिः नो अग्निः
सायं सायं सौमनस्य दाता।
वसोर् वसोर् वसुदा न एधि
इन्धानास् त्वा शतं हिमा ऋधेम॥

(अथर्व) आँगिरस वेद १९-५५-४

(अर्थ—रोज प्रातःकाल अग्निकी परिवारके रक्षक रूपमें उपासना करनेसे वे सायंकाल ही उसका फल आनन्द दे देते हैं। यह आनन्द सब सम्पदोंमें श्रेष्ठ सम्पद है। हे अग्नि! तुम इस सम्पद के दाता होकर आओ। तुम्हें प्रज्वलितकर हम शत शीतकाल (वर्ष) अच्छी तरह काट सकते हैं।)

(ख) सायं सायं गृहपति नो अग्निः
प्रातः प्रातः सौमनस्य दाता।
वसोर् वसोर् वसुदा न एधि
वयं त्वेन्धानास् तन्वं पुषेम॥

(अथर्व आँगिरस वेद १९-५५-३

(अर्थ—सायंकाल अग्निकी गृहपतिरूपमें अर्चना करनेसे दूसरे दिन प्रातः ही वे आनन्दके दाता होते हैं। हे अग्निः सब सम्पदोंमें श्रेष्ठ इस सम्पदको दान करनेके लिए तुम आओ। तुम्हें प्रज्वलितकर हम तनु (आत्मा) को पुष्ट करेंगे।)

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

मध्याह्नमें भी यज्ञ विधेय है ।

(ग) दुहे सायं दुहे प्रातः दुहे मध्यन्दिनं परि ।
दोहा ये अस्य संयन्ति तान् विद्म अनुपदम्वतः ।।

(अथर्व) आंगिरस वेद ४-११-१२

(अर्थ—यज्ञरूप धेनुको सायंकाल दुहे, प्रातः दुहे और दोपहरमें भी दुहे । जो इस प्रकार दोहन करते हैं उन्हें उपदम्वत (क्षयशील) नहीं होना पड़ता) ।

कोई-कोई दैनिक पांच बार यज्ञ करने को कहते हैं ।

छायातपौ ब्रह्मविदो वदन्ति ।
पंचाग्नयो ये च त्रिणाचिकेताः ।।

(अर्थ—ब्रह्मविद्गण दो श्रेणीमें विभक्त हैं । कोई तीन बार अग्नि जलाते हैं, कोई पाँच बार अग्नि जलाते हैं—हिन्दू तीन बार, पारसी पाँच बार ।)

(२) **पाक्षिक (दर्श-पौर्णमास)**

कालक्रमानुसार दैनिक यज्ञानुष्ठान दुःसाध्य मालूम होने लगा । तब पक्षमें एक बार (अमावस्या और पूर्णिमाको)यज्ञका विधान किया गया ।

अग्निहोत्रं च जुह्यात् सायं प्रातः यथाविधि ।
दर्शेन चैव पक्षान्ते पौर्णमासेम चैव हि ।।

कूर्म पुराण (उत्तर खण्ड) २४-१

(३) **नैमित्तिक**

जिनके लिए पाक्षिक यज्ञ भी सम्भवपर नहीं हैं वे किसी निमित्तको लेकर, जैसे दिवाली, नवरात्र आदि की पूजा अथवा उत्तरायण, दक्षिणायण आदि पर्वमें अथवा किसी पारिवारिक शुभ दिन (जन्म-दिन, गृहप्रवेश, विद्यारम्भ, अन्न-प्राशन, आदि) यज्ञका अनुष्ठान करें । इस वैदिक उपासना पद्धतिको लुप्त नहीं होने देना चाहिए ।

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

१०३-१०५ नं श्लोकोंका तात्पर्यार्थ

[पश्चिम बंगालके बहरामपुर कालेजके प्रधान संस्कृत अध्यापक श्री शचीन्द्र-नाथ शास्त्रीने 'यज्ञतत्त्व' ग्रंथके प्रकाशनमें बहुत सहायता की । उन्होंने १०३ से १०५ तक श्लोकोंका यह तात्पर्यार्थ लिख दिया था जो बहुत उपादेय और मनोरम मालूम होता है । पाठकगण अवश्य इससे लाभान्वित होंगे ।]

धर्माधर्म-हविर्दीप्ता वात्माग्नौ मनसा स्रुचा ।
सुषुम्ना-वर्त्मना नित्यं अक्षवृत्तीः जुहोम्यहम् ॥१०३॥
होमेन चेतनां जित्वा ध्यायेदात्मानम् आत्मना ॥१०४॥
द्व आहुती जुहोत्येते अग्निहोत्र विधानतः ।
ममतां प्रथमं हुत्वा अहंताञ्च जुहुयात्ततः ॥१०५॥

अनादिकालसे जीवभाव अविवेकके कारण धर्माधर्म संस्कारके सहित संश्लिष्ट है । यही कर्मसंस्कार है । इसीके फलस्वरूप सुख-दुख भोगके लिए भोगायतन देह ग्रहण करनी पड़ती है । जबतक अज्ञानका मूलोच्छेद न हो तब तक एकके बाद दूसरी देहमें कर्मसंस्कार पुनः-पुनः उत्पन्न होते रहते हैं । इस प्रकार जन्म-मृत्यु चक्र अनवरत घूमता रहता है । तत्त्वज्ञानके उदय होनेपर यह धर्माधर्मरूप संस्कार दग्ध हो जाता है । तब कर्मभोगके लिए देहान्तरकी आवश्यकता नहीं होती ।

उपासकका कर्तव्य है इस धर्माधर्मको भावना द्वारा ज्ञानाग्निमें आहुति देना । मुक्ति-कामीको पहले विषयका द्वार इन्द्रिय-पथको बन्द कर देना होगा और इसके बाद पूर्व संस्कारोंको दग्ध करने की व्यवस्था करनी होगी । इसका एक और उपाय भी है जो श्लोक नं० १०३ में बताया गया है । विषयको ग्रहण करके भी उसे ज्ञानरूप अग्निमें डालकर संस्कारमें परिणत न होने देना । भावनात्मक यज्ञ द्वारा यह काम हो सकता है । मन जब भी विषय ग्रहण करे उसे आत्मामें निवेदन कर दे और भावना करे कि आत्माग्निमें विषयरूपी सोमकी आहुति देता हूँ । आहुति होगी भावनात्मक, उसका कारण होगा मन, अतएव मन ही उस आहुतिका स्रुक होगा । आत्मा देवता है, उसीको विषयरूप

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

सोम अर्पित होता है। अर्पणका साधन मन ही स्रुक है। विषयको सभी जानते हैं, मनको न जानते हुए भी हम जानते हैं क्योंकि मनन-व्यापार सभीको प्रत्यक्ष है लेकिन आत्माके बारेमें हमारी धारणा अत्यन्त अस्पष्ट है। सुतरां भावनात्मक यज्ञमें मन इन्द्रिय-पथमें समाहृत विषयको कहाँ किस प्रकार अर्पण करे। इसके उत्तरमें कहा गया—'सुषुम्ना वर्त्मना'।

१०३ और १०४ मंत्रोंमें विषयरूप समस्त द्वैत प्रपंचको सुषुम्नामें प्रवाहित आत्माग्निरूप 'अहं' की धारामें आहुति देनेकी बात कही गयी है। इसके फलस्वरूप चेतना अर्थात् द्वैत चेतना विनष्ट होजायगी। तब बाकी रहेगी अणु चैतन्यकी सुषुम्ना प्रवाही धारा। इसे परमात्मज्योतिमें आहुति देनेसे परम श्रेयो लाभ होगा। १०४ नं० मन्त्रमें इसी आहुतिकी बात कही गयी है—'ध्यायेद् आत्मानमात्मना'।

१०५ नं० श्लोक—श्रुतिके प्रसिद्ध अग्निहोत्रमें 'ममता' और 'अहन्ता' इन दो आहुतियोंका विधान है। भावनात्मक अग्निहोत्र उसीका प्रतीक है। अतएव इसमें भी दो आहुतियोंकी व्यवस्था है। एक तो इन्द्रिय वृत्तियोंकी अहंकाराकी आहुति—यह 'मम'के अन्तर्गत है। इसके बाद दूसरी आहुतिमें अणु 'अहं' को भी परम अकृतिम व्यापक चैतन्यमें आहुति देनेसे 'अहं-मम' सम्पूर्णतः निःशेषित हो जाता है। तब संसार-चक्रका आवर्तन शेष हो जाता है, जीव कृतकृत्य हो जाता है।

●

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

('पूजातत्त्व' एवं 'यज्ञतत्त्व' के लेखक)

श्रीमत् स्वामी प्रेमानन्द तीर्थ

की

जीवन एवं पत्रावली

दो खण्डों में

भक्तोंकी विशेष अनुरोधपर इस पुस्तकका संकलन किया गया है। स्वामीजी की साधनोपलब्ध अनुभूतियोंका सार उनके पत्रोंमें है जो वे ६० वर्ष तक अपने भक्तोंको लिखते रहे। जो उत्थानके इच्छुक हैं वे इस पुस्तकमें अपने पथका संधान पायेंगे। दोनोंका मूल्य ८.०० डाकव्यय पृथक

साधना और मुक्ति

श्रीमत् स्वामी प्रेमानन्द तीर्थ के अपकाशित पत्रोंका संकलन

मूल्य ५.००० डाकव्यय पृथक

गृहस्थ आश्रम में

भगवत-साधना

श्रीमत् स्वामी प्रेमानन्द तीर्थं प्रणीत मूल्य १.५० डाकव्यय पृथक

पूजा

नित्य पाठके मंत्र, अथं और संगीतसहित मूल्य १ ००

तत्त्व कथा

हिन्दू आचार अनुष्ठानोंका आध्यात्मिक रहस्य

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

मूल्य ३.०० डाकव्यय पृथक